- शून्यो -

सनातन धर्म के अध्यात्मिक रहस्य

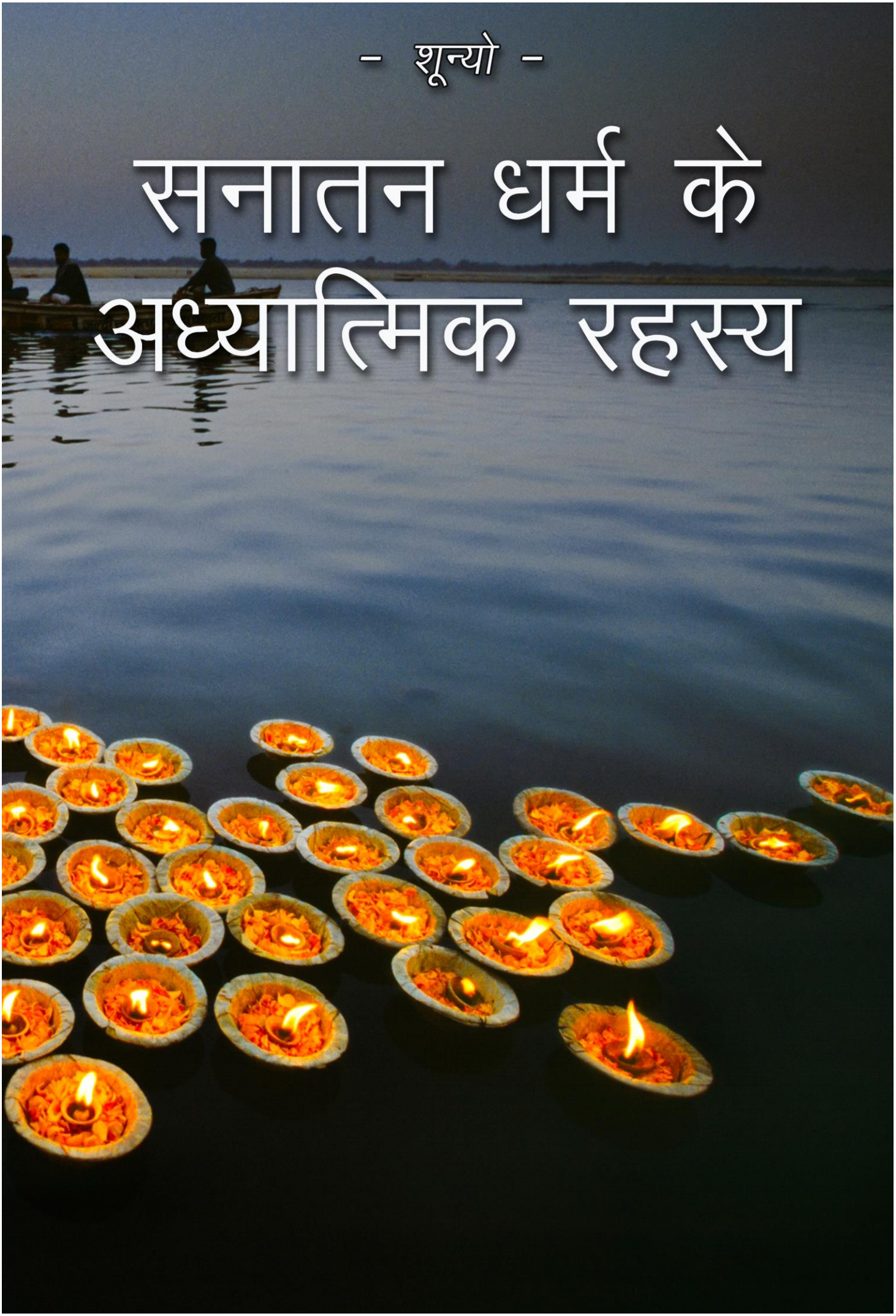

सनातन धर्म के आध्यात्मिक रहस्य

शून्यो

© 2017

डॉयरी नम्बर : 7624/2017-CO/L

इस ई-बुक के सभी अधिकार सुरक्षित हैं। महत्वपूर्ण लेखों और समीक्षाओं में प्रकाशित इस पुस्तक के छोटे उद्धरणों को छोड़कर, इस पुस्तक का कोई भी अंश बिना प्रकाशक के अनुमति के दोबारा प्रकाशित नहीं किया जा सकता।

वेबसाइट : **www.shunyo.in**

ई-मेल : **info@shunyo.in**

प्रकाशक : डॉ0 किसलय गौड़
कोतवाली रोड
देवरिया - 274001
उत्तर प्रदेश

फोन नं0 : 05568-225488

सनातन धर्म के अध्यात्मिक रहस्य

भूमिका

सनातन धर्म उस ग्लेशियर के समान है, जिसमें से कई नदियाँ निकलती हैं। अलग-अलग नाम व अलग-अलग दिशाओं में बहते हुए, ये काम बस एक ही करती हैं। जो है धरती और जीवों की प्यास बुझाना। जिस प्रकार एक दवा की दुकान में अलग-अलग बीमारियों की अलग-अलग दवाएँ होती हैं। वैसे ही सनातन धर्म, अलग-अलग स्वभाव के व्यक्तियों के लिए ईश्वर को पाने के अलग-अलग मार्गों को मान्यता देता है। कोई उसे साधना से प्राप्त करता है तो कोई उपासना से। कोई प्रेम से तो कोई योग से। कोई ध्यान से तो कोई निष्काम कर्म से। लेकिन जैसे गंगा की सभी सहायक नदियाँ, अंत में गंगा में ही मिल जाती हैं और गंगा जाकर सागर में। उसी प्रकार व्यक्ति किसी भी मार्ग से जाए, अंत में प्राप्त उसी एक ईश्वर को करता है। वास्तव में अध्यात्म ही सभी धर्मों की जननी है। जिस प्रकार बच्चों में माता-पिता के गुण छुपे हैं। उसी प्रकार धर्म में अध्यात्म से सम्बन्धित कई रहस्य छुपे हैं। अध्यात्म ईश्वर का विस्तार है और धर्म अध्यात्म का। ईश्वर गंतव्य हैं तो धर्म उन तक पहुँचने का हाइवे। धर्म में प्रयुक्त मंत्र, प्रतीक, शब्द, कर्मकाण्ड, पद्धतियाँ स्वयं में अध्यात्म अर्थात् स्वयं आप से सम्बन्धित रहस्य समेटे हुए हैं। इस प्रकार धर्म का पालन करते हुए आप अध्यात्म अर्थात् स्वयं से जुड़े रहस्यों तक पहुँच जाते हैं। धर्म एक नितांत व्यक्तिगत मार्ग व घटना है। समाज में प्रचलित धर्म आपको एक पहचान देने में व्यस्त हैं तो वहीं व्यक्तिगत धर्म चुपचाप, व्यक्तिगत रूप से आपके सभी भ्रमों को मिटाने पर काम करता है और समाज द्वारा दी गई पहचान भी विभिन्न भ्रमों में से मात्र एक भ्रम ही है।

धर्म में उपस्थित अध्यात्मिक बीज, आपको स्वयं तक पहुँचाकर, सभी भ्रमों को गिराने के लिए ही उपस्थित हैं। यह पुस्तक उन्हीं रहस्यमयी बीजों की बात करती है।

अनुक्रमणिका

क्रम सं0	नाम	पृष्ठ सं0
1.	बर्बरीक की शीश पूजा	14
2.	शव को उत्तर-दक्षिण दिशा में रखा जाना	17
3.	सती	18
4.	ब्रह्मा की पूजा अति सीमित क्यों?	20
5.	कैलाश सहस्त्रार पर	21
6.	उपवास में नमक का निषेध	23
7.	सनातन धर्म के विश्व में न फैलने का कारण	25
8.	ईश्वर को भोग चढ़ाना	27
9.	सनातन धर्म उदार क्यों?	29
10.	ब्रह्म	32
11.	प्रेम	33
12.	साधना	36
13.	पंचतत्व	37

14.	कर्मकाण्ड	39
15.	सत्यम् शिवम् सुन्दरम्	41
16.	ईश्वर एक है। सत्य एक है।	42
17.	सत् चित् आनन्द	44
18.	भीष्म का उत्तरायण में शरीर त्याग	45
19.	क्षीरसागर में विष्णु-लक्ष्मी व शेषनाग	47
20.	वैकुण्ठ	49
21.	पृथ्वीलोक	51
22.	स्वर्ग	53
23.	नर्क	55
24.	सीता द्वारा जनक का पिता रूप में चयन क्यों?	56
25.	माया	57
26.	अद्वैतवाद	59
27.	मुनि	61
28.	मंत्र	63

29.	दान तथा अपरिग्रह	64
30.	ऋषि	66
31.	ऋद्धि – सिद्धि	68
32.	मूर्ति पूजा का रहस्य	69
33.	माँ दुर्गा का वाहन शेर क्यों?	71
34.	यथा ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड	72
35.	सकाम पूजा	73
36.	निष्काम पूजा	74
37.	प्रणाम्	75
38.	आसन	76
39.	शिव का गंगा को जटाओं में धारण करना	78
40.	सात्विक भोजन	79
41.	कुंभ मेले का महत्व	81
42.	ग्रहण में भोजन का निषेध क्यों?	82
43.	स्वास्तिक	84

44.	पैर छूना	85
45.	गंगा में स्नान क्यों?	86
46.	काशी में शरीर त्याग पर मोक्ष	88
47.	आकाशवाणी	89
48.	अर्धनारीश्वर	91
49.	तिलक	92
50.	हनुमान	93
51.	संस्कारों का अर्थ	95
52.	शिव के गर्भगृह में प्रवेश	97
53.	जीवन का पूर्वार्द्ध	98
54.	जीवन का उत्तरार्द्ध	100
55.	तपस्या	101
56.	तपस्या हिमालय में क्यों?	103
57.	ध्यान	104
58.	मंदिर क्यों?	106

59.	साधु	108
60.	साधु मौन व एकाकी क्यों?	109
61.	संत	110
62.	महात्मा	111
63.	स्वामी	112
64.	सन्यासी	113
65.	पूजा	115
66.	कीर्तन	116
67.	आरती	118
68.	गेरुआ वस्त्र क्यों?	119
69.	विवाह में चार या सात फेरे और क्यों?	121
70.	छाबड़ी	123
71	हरिओम तत्सत्	125
72.	महंत	126
73.	मठ	128

74.	नेति–नेति	129
75.	दुःख की घड़ी में बोला जाने वाला वाक्य	132
76.	शुभ कार्यों में नारियल का उपयोग क्यों?	134
77.	शिव विनाशक क्यों?	136
78.	गंगाा का वेग से धरती पर उतरना	137
79.	ज्योति प्रज्ज्वलन क्यों?	140
80.	ज्योतिर्लिङ्ग का तात्पर्य	141
81.	मंदिर में परिक्रमा क्यों?	142
82.	कैवल्य	144
83.	गणेश	145
84.	दीवाली	148
85.	होली	151
86.	ज्ञान	154
87.	ओम्	155
88.	नमस्ते	157

89.	प्रणाम्	158
90.	ग्रहण में जप-तप क्यों?	160
91.	अवतार	163
92.	सन्यास	164
93.	राम नाम सत्य है!	166
94.	शिवलिंग	167
95.	शिवलिंग पर टपकता जल	169
96.	भक्ति	171
97.	हिन्दू	172
98.	शिवलिंग पर जल अर्पण	174
99.	शिव के मस्तक पर चन्द्रमा	175
100.	कण्ठ पर चन्दन	177
101.	शव और शिव	178
102.	धर्म व अध्यात्म में अन्तर	181
103.	प्रवचन	184

104.	परमपद	185
105.	ज्ञानकाण्ड	187
106.	समाधि	189
107.	सेवा	192
108.	विवेक	194
109.	शव का दहन क्यों?	197
110.	देवी स्थल पहाड़ों पर क्यों?	200
111.	राम का जन्म कृष्ण से पहले क्यों?	203
112.	देवता	206
113.	सागर मंथन	207
114.	महाभारत का संदेश	209
115.	शिव के शरीर पर भस्म क्यों?	213
116.	शिव का तृतीय नेत्र	215
117.	नवरात्र	217
118.	भोला भण्डारी	219

119.	गंगासागर एक बार	220
120.	भभूत	222
121.	अर्धांगिनी	224
122.	दीपदान	226
123.	लोक	228
124.	पितृ ऋण	230
125.	यम अथवा यमदूत	232
126.	देव ऋण	234
127.	मातृ ऋण	236
128.	त्रिगुण	238

बर्बरीक की शीश पूजा

बर्बरीक को भगवान कृष्ण ने शीश का दान लेने के पश्चात उनकी ज्ञान इन्द्रियों अर्थात शीश को (क्योंकि शीश में ही सभी ज्ञानेन्द्रियां उपस्थित होती हैं) एक पहाड़ पर रख दिया ताकि वे युद्ध का अवलोकन कर सकें। यही बर्बरीक की इच्छा भी थी कि वह इस युद्ध को देख सकें। तात्पर्य बिल्कुल साफ है बर्बरीक भी जानते थे कि युद्ध में भाग लेने से ज्यादा महत्व है, युद्ध के अवलोकन का। भाग तभी लिया जाए जब आवश्यकता हो और कृष्ण ने तो गीता रची ही सिर्फ इस बात को समझाने के लिए। महाभारत की रचना की सिर्फ सत्य को समझाने के लिये। जिसमें एक तत्व यह भी था कि अवलोकन करो इस संसार का तथा इस संसार से हट के, इसे दूर से देखो। लिप्त मत हो, बस इस संसार को अपना कार्य करते हुए, रंगमंच पर प्रस्तुति देते हुए देखो। लिप्त होना आवश्यक नहीं है क्योंकि जब तुम संसार के कार्यो में लिप्त होते हुए भी निर्लिप्त हो जाओगे, तब भी तुम्हारा शरीर अपनी भूमिका अदा करता रहेगा और तुम्हारी चेतना उसे किसी ऊँचे स्थान से सिर्फ देखती रहेगी, तभी तुम संसार का मतलब समझ पाओगे। बर्बरीक ही इस कार्य हेतु सर्वश्रेष्ठ थे क्योंकि उन्होंने चयन ना किया, वे तटस्थ हैं निरपेक्ष हैं।

इसी कारण कृष्ण ने कहा कि अब वक्त आ गया है कि तुम अवलोकन करो। तुम महाभारत का मर्म समझ कर, महाभारत से पहले ही ऊपर उठ चुके हो, इसलिए तुम्हारे लिए अवलोकन करना ही एक कार्य बच गया है। देखो इसे दूर से कि किस प्रकार अधर्म अंहकार के मद् में चूर होकर, धर्म पर अधिकार कर लेना चाहता है। परन्तु धर्म को उठना ही होगा अपने भीतर की आसुरी प्रवृति पर विजय पाने के लिए। सारे युद्ध युद्धस्थल में ही नहीं लड़े जाते। हमारे भीतर एक सतत् युद्ध चल रहा है और स्वयं से किया गया युद्ध सबसे दुष्कर और सबसे लम्बा चलता है क्योंकि इसमें हारने वाले भी हम ही हैं और जीतने वाले भी हम ही हैं। स्वयं को ही दो हिस्सों में बाँटना होगा। अपने भीतर ही स्वार्थी प्रवृत्तियों को एक तरफ कर

और निर्गुण प्रवृत्तियों को एक तरफ कर देखना होगा। खुद को ही छोड़ना होगा और इसमें प्राप्त भी खुद को ही किया जाता है। यही सर्वश्रेष्ठ प्रकार का युद्ध है और यही वह महाभारत है जिसकी चर्चा श्री कृष्ण कर रहे थे। इसी एक महाभारत को समझाने के लिए उन्होंने कुरूक्षेत्र में शरीरों को चुना।

बर्बरीक महाभारतकालीन योद्धा थे। कुछ इतिहासकार इन्हें भीम के पुत्र और कुछ पौत्र मानते हैं। इनकी माता का नाम अहिलावती था। बर्बरीक एक अजेय योद्धा थे। शिव से इन्हें तीन बाण प्राप्त हुए थे, साथ ही यह भी वरदान प्राप्त था कि इन बाणों से तीनों लोक जीते जा सकते हैं। अपनी शूरवीरता व वरदानों के कारण वे एक अति महत्वपूर्ण योद्धा थे, जो दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष में जाने पर युद्ध के परिणाम को प्रभावित कर सकते थे। वे थे तो भीम के कुटुम्ब से अर्थात पाण्डवों के कुटुम्ब से परन्तु उनकी माता ने उन्हें यह समझाया था कि तुम्हारे लिए सभी समान हैं। इस कारण तुम्हें न पक्ष में होना है और न विपक्ष में, तुम्हें सम रहना है। तुम योग्य हो, समर्थ हो, विद्याओं में सिद्ध हो, साथ ही तत्वज्ञानी भी। यदि तुम वास्तव में महाभारत में भाग लेना चाहो तो तुम्हें उसी की तरफ से युद्ध करना चाहिए जो हारता हो। तुम्हें स्वयं को मोह से मुक्त करना चाहिए व हारने वाले को शरण व सहायता देनी चाहिए। श्री कृष्ण बर्बरीक की गुणातीत अवस्था के बारे में जानते थे। उन्होंने स्वयं ही महाभारत का युद्ध रचा था, गीता के अवतरण हेतु। साथ ही उन्हें चुनाव भी करना था भविष्य हेतु। इस कारण वह उपयुक्त व्यक्ति की तलाश में थे जो तत्वज्ञानी हो, गुणातीत हो, मोह और अंहकार से दूर हो। जो स्वयं के शरीर होने के भाव से मुक्त हो चुका हो, साथ ही जो सत्य के सबसे निकट हो व सत्य का प्रतिनिधि बन सके। इस कारण उन्होंने बर्बरीक की परीक्षा लेने का निश्चय किया। वे जानते थे बर्बरीक की विशेषता उनके तीन बाण हैं। उन बाणों का प्रयोग करने से रोकने के लिए, वे बर्बरीक का अंगूठा भी माँग सकते थे, जिसके अभाव में बाणों का प्रयोग नहीं किया जा सकता था। वे उसकी भुजा भी माँग सकते थे, परन्तु उन्होंने बर्बरीक से शीष माँगा। शीष माँगने के पीछे एक

विशेष कारण था, सभी ज्ञानेन्द्रियाँ शीष में ही उपस्थित होती हैं और बर्बरीक तत्वज्ञानी थे वे सत्य का प्रतिनिधि बनने हेतु सबसे योग्य व्यक्ति थे। उनकी चेतना उनकी ज्ञानेन्द्रियों में स्थित हो चुकी थी। वे शरीर के पार जा चुके थे। अब महाबलि होना या न होना उनके लिए महत्वपूर्ण न था। शरीर रहे या जाए उसमें उनकी कोई लालसा न थी। वे इच्छा शून्य हो चुके थे। शारीरिक स्तर पर पूर्ण की जाने वाले इच्छाओं में उनकी कोई रूचि न थी। कामनाएँ उनको अब न सताती थी। उनका मन अब स्थिर हो चुका था। वे शरीर में रहते हुए भी परमतत्व के सबसे करीब थे। एक योगी की कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों दोनों में ही विशेष रूचि नहीं होती। इसी कारण कृष्ण ने बर्बरीक को शीश दान करने के लिए कहा। इस प्रकार वे बर्बरीक की परीक्षा ले रहे थे। बर्बरीक ने शीश दान में तनिक भी हिचक न दिखाई और इस प्रकार स्वयं को त्रिगुणातीत सिद्ध कर दिया। तब कृष्ण ने प्रसन्न होकर उन्हें यह वरदान दिया कि तुम्हारे शीश की पूजा कलयुग में होगी और जैसे–जैसे कलयुग का प्रकोप बढ़ेगा, वैसे–वैसे तुम्हारे प्रति लोगों का आकर्षण भी बढ़ेगा अर्थात कलियुग में ज्ञानेन्द्रियों द्वारा तत्वज्ञान की विशेष महत्ता होगी और तुम्हारे भक्त देर–सबेर इस बात को समझ ही जाएंगे कि आनन्द गुणों में नहीं, गुणों के पार जाने में है। सुख इच्छा में नहीं, इच्छा को लाँघ जाने में है। आनन्द प्राप्त करने में नहीं, प्रदान करने में है और प्रेम तो स्वयं अपनी आत्मा में ही पाया जा सकता है क्योंकि आत्मा स्वयं प्रेमस्वरूप है। कृष्ण ने बर्बरीक को अपना नाम भी दिया। इसका मतलब यह है कि चेतना अब चैतन्य में विलीन हो चुकी थी। आत्मसाक्षात्कार हो चुका था और यह चेतना परमात्मा की ओर सुलभता से गमन कर गई। इस कारण बर्बरीक अब बर्बरीक न रह गये थे। वे अब कृष्ण हो गये थे। उनकी चेतना अब परमचेतना हो चुकी थी। इस कारण अब उन्हें बर्बरीक कहो या श्याम कुछ विशेष अन्तर नहीं। अब उन्हें कृष्ण कहो या कृष्ण का दूसरा नाम, कोई अन्तर नहीं।

❖❖❖

शव को उत्तर-दक्षिण दिशा में रखा जाना

सनातन धर्म में व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात शव को उत्तर–दक्षिण दिशा में रखने का प्रावधान है, जिसमें सिर उत्तर दिशा की ओर तथा चरण दक्षिण दिशा की ओर होते हैं। जीवित दशा में उत्तर दिशा में सिर रखकर सोने की मनाही है। सिर्फ मृत्यु पश्चात ही यह किया जा सकता है।

भौतिक वैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी एक बड़े चुम्बक की भांति कार्य करती है। जिसके दो ध्रुव हैं। इन्हीं ध्रुवों के कारण पृथ्वी का अपना चुम्बकीय क्षेत्र है। इसी कारण मैग्नेटिक कम्पास सदा उत्तर–दक्षिण की ओर ही इंगित करता है। उत्तर की ओर इंगित करने का तात्पर्य यह है कि पृथ्वी का उत्तरी छोर उस दिशा में है। शरीर पंचतत्वों से मिलकर बना है व इसकी मूल संरचना उन्हीं अणुओं से होती है जो पृथ्वी में पाए जाते हैं जैसे की कार्बन, हाईड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, सल्फर इत्यादि।

प्राणी के शरीर त्याग करने के पश्चात् शरीर की कोशिकाएं स्वतः ही क्रियाहीन होने लगती हैं। शरीर के विभिन्न अंग विभिन्न समयों तक जीवित रहते हैं। उनमें विघटन की प्रक्रिया सामान्य रूप से व प्राकृतिक रूप से संचालित करने के लिए पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र का उपयोग किया जाता है। प्राणी अथवा जीव के शरीर त्याग करने के पश्चात शरीर मात्र अपने अवयवों की एक मूर्ति रह जाता है। जिसका अपने अवयवों में टूट जाना ही उचित है और इसी क्रिया को बल देने हेतु शव को उत्तर–दक्षिण दिशा में रखा जाता है।

❖❖❖

सती

सती का वास्तविक अर्थ भौतिक अग्नि द्वारा काया को जलाना नहीं अपितु सत्य की खोज में ज्ञान की अग्नि द्वारा, अंधकार रूपी अज्ञान को जला देना है। ऐसे पति के मोह में जो स्वयं को शरीर ही मानता हो, उसकी चिता में इस यंत्र रूपी शरीर को जलाकर तुमने पाया ही क्या? अपनी मूढ़ता के वश में अपनी जीवात्मा को कष्ट देकर, इस शरीर रूपी अवसर को किसी अन्य देह के मोह में, अग्नि को समर्पित करने से किसे लाभ प्राप्त हुआ? संतुष्ट कौन हुआ? सिर्फ माया। वह फिर विजयी हुई। सत्य तक पहुँचने से उसने जीव को फिर रोक दिया। वास्तव में सती वह स्त्री है, जिसने सत्य को पा भी लिया और उसे पहचान भी लिया। आत्मा में उपस्थित सत्य का साक्षात्कार किया व स्वयं को शरीर के मोह से अलग कर लिया। मीरा सती का वास्तविक उदाहरण है।

भारत में सती प्रथा मध्य काल से प्रचलित रही है, जिसमें पति की मृत्यु के पश्चात स्त्रियाँ उसके साथ ही चिता में जलकर अपनी जीवनलीला समाप्त कर लिया करती थीं। पिछली सदी के प्रारंभिक वर्षों में अंग्रेजों ने इस प्रथा पर रोक लगा थी। 'सती' का वास्तविक अर्थ भौतिक अग्नि द्वारा काया को जलाना नहीं है अपितु सत्य की खोज में ज्ञान की अग्नि द्वारा अंधकार रूपी अज्ञान को जला देना है।

सनातन धर्म ने तो बहुत पहले ही कह दिया कि यह शरीर सत्य नहीं है। यह मात्र उन्हीं अवयवों से मिलकर बना है जिनसे सृष्टि बनी है। यह सिर्फ जीव का वाहन है। यह वह यंत्र है जिसके माध्यम से जीव लोक में विभिन्न कर्म किया करता है तथा अपनी जीवनयात्रा पूर्ण करता है। इसे तो वैसे भी जल ही जाना है। इसे जलाकर क्या लाभ? यदि जलाना ही है तो अपने मन को, अपने विचारों को जलाइये जो यह कहता है कि

इस शरीर में सुख प्राप्त कर लो। पूरा लाभ ले लो इस शरीर का क्योंकि सुख तभी तक है, जब तक यह शरीर है और सुख तुम्हें किसी दूसरे शरीर में ही मिलेगा। उस शरीर से भी सुख प्राप्त करने का प्रयास करो। यह माया हमें बताती है। हमारा मन हमें बताता है। परन्तु सनातन धर्म ने तो बहुत पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि यदि कुछ सत्य है तो वह है आत्मा। आत्मा वह कारण है जिसकी वजह से जीव एक शरीर को प्राप्त कर पाता है। मीरा ने अपना जीवन सत्य को समर्पित कर दिया, जीवन में प्रेम ढूंढ़ने का प्रयास किया। वह शरीर के मोह से अलग हो चुकी थी। वो ये जानना चाहती थीं कि सत्य क्या है और इस क्रम में अपने प्रयासों द्वारा उन्होंने जाना कि प्रेम ही सत्य है और कृष्ण प्रेम का स्वरूप है। आत्मा ही प्रेम है और जब यह परमात्मा से मिलती है तो वही वास्तविक मिलन है। अन्य सभी मिलन समाजों को सन्तुष्ट कर सकते हैं परन्तु तुम्हारी जीवात्मा को सन्तुष्ट करने के लिए एक ही मिलन बना है और वह है आत्मा से। जो स्त्री इस सत्य को जान गई वही सती है।

❖❖❖

ब्रह्मा की पूजा अति सीमित क्यों?

परमपिता ब्रह्मा अस्तित्व की वह शक्ति हैं जिन्होंने सृष्टि का निर्माण किया परन्तु सृष्टि का निर्माण किये जाने के बाद भी उनकी पूजा अतिसीमित है। उनका सिर्फ एक ही मन्दिर है जो पुष्कर राजस्थान में स्थित है। सृष्टि के रचनाकार होने के बाद भी तत्वज्ञानियों ने इस तथ्य को बहुत महत्व नहीं दिया। ब्रह्मा जी की भूमिका उस शुक्राणु जितनी ही सीमित है जो डिम्ब का निषेचन तो कर देता है परन्तु उसकी उपादेयता वहीं समाप्त हो जाती है क्योंकि उसके बाद प्रकृति ही पूरा नियन्त्रण अपने हाथ में ले लेती है। प्रकृति भ्रूण को धारण कर, उसे उचित परिस्थितियाँ, भोजन व सुरक्षा प्रदान कर, उसे सामान्य रूप से बढ़ने में सहायता करती है। तत्पश्चात जन्म लेने के बाद लालन-पालन, पोषण से लेकर जीव के शरीर त्याग करने तक प्रकृति ही उसे पूर्ण सहायता व ममत्व प्रदान करती है। इसी कारण तो हम देवी पूजन तो हर एक स्थान पर देखेंगे परन्तु परमपिता ब्रह्मा का पूजन अतिसीमित है।

पालने वाले को सदैव ही बनाने वाले से कहीं ज्यादा महत्ता दी गई। ब्रह्मा की यदि सकाम पूजा की भी जाय तो उससे क्या प्राप्त होगा? यही कि वे प्रकृति निर्माण के रहस्यों का, साधनों का व निर्माण करने के तरीके के बारे में बता सकते हैं, परन्तु उससे होगा क्या? यदि तुमने प्रकृति को नहीं जाना तो निर्माण करके पाओगे क्या? निर्माण तो एक बोझ की भाँति ही होगा। न उसका कोई भविष्य और न ही उसकी कोई उपादेयता। प्रकृति के बिना वह निर्माण भी अधूरा ही होगा इसीलिए प्रकृति को जान लिया जाना अति आवश्यक है क्योंकि निर्माण करने वाला तो निर्माण में रत है ही। वह कार्य जो उन्हें मिला, वह कार्य तो उन्होंने पूर्ण कर ही दिया परन्तु अब चलाने की बारी है। निर्माण पूर्ण हो चुका अब पालन-पोषण करना होगा। यात्रा आगे बढ़ानी होगी। ब्रह्मा जी एक रचनाकार की भांति हैं

जिन्हें रचना करने में प्रवीणता है परन्तु उनकी रचनाओं में जीवन तथा प्राण तो किसी और ने डाले। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे अर्किटेक्ट ने मकान तो बना दिया पर उस मकान को घर बनाएंगे उसमें रहने वाले प्राणी ही। जो अगले सौ वर्षों तक उसमें रहते हुए उसका रख रखाव व उससे अनुराग रखेंगे। बनाने वाले ने तो निर्माण किया और वे चले गए। उसका कार्य बस वहीं तक था। सृष्टि को बनाना तो एक सुन्दर कार्य था परन्तु उसको चलाना एक महत्वपूर्ण कार्य।

❖❖❖

कैलाश सहस्त्रार पर

शिव अर्थात सत्य सृष्टि की धनात्मक ऊर्जा हैं और पार्वती अर्थात प्रकृति सृष्टि की ऋणात्मक ऊर्जा। जिसे चीनी भाषा में यिंग और यांग कहा गया। जिस प्रकार पृथ्वी दो ध्रुवों से मिलकर बनी है। उसी प्रकार शरीर में सिर के भाग को उत्तर तथा पैर को दक्षिण माना जाता है। उत्तर को प्रकृति का वास स्थान माना जाता है, हिमालय जो प्रकृति की आश्रय स्थली है, वह उत्तर में ही स्थित है। शरीर के शीश में सभी ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित हैं। शरीर में स्थित सहस्त्रार चक्र सिर के बिल्कुल ऊपरी भाग में स्थित हैं अर्थात् उत्तरी दिशा में सबसे आखिरी बिन्दु। कैलाश हिमालय पर अर्थात् पृथ्वी के उत्तर में स्थित है और सहस्त्रार चक्र सिर के बिल्कुल उपरी हिस्से में अर्थात शरीर की उत्तरी दिशा में अन्तिम बिन्दु। सहस्त्रार चक्र को शरीर में उपस्थित कैलाश माना गया, जहाँ पर सृष्टि की दो विपरीत ऊर्जाएँ स्थित होती हैं अर्थात् शिव और पार्वती। इस प्रकार कैलाश हर एक प्राणी में स्थित है।

सनातन धर्म यह कहता है कि यदि सहस्त्रार चक्र से प्राण छूटे तो प्राण प्रकृति में विलीन अर्थात मोक्ष की प्राप्ति। सहस्त्रार चक्र को सुषुम्ना नाड़ी का अन्तिम बिन्दु माना गया। सत्य का प्रकृति से मिलने का मतलब यह है कि चेतना अब माया से दूर आ गई। अब माया के पास कोई कारण नहीं बचा कि वह चेतना को फिर से बन्धन में बाँधे। कैलाश पर स्थिति तभी सम्भव है, जब जीव अपने सभी आवेशों का त्याग कर विखण्डित हो जाए। यह अवस्था उसे जिस किसी भी मार्ग से प्राप्त हो परन्तु आवेशों का त्याग अर्थात अंहकार, इच्छाओं, कामनाओं, अकांक्षाओं और कर्मफल बन्धन व कर्मफल में आसक्ति त्याग ही आवेशों का त्याग करना है। जब आत्मा अपने ऊपर उपस्थित जीव का त्याग कर देती है या जीव अब तत्व ज्ञान प्राप्त कर स्वयं को मुक्त कर लेता है। वह आत्मा में विलीन होकर अपनी अगली यात्रा पर प्रकृति की ओर प्रस्थान कर जाता है। इसी मिलन स्थल को कैलाश कहते हैं। कैलाश कैवल्य से सम्बन्धित प्रतीत होता है। कैवल्य अर्थात प्रकृति से एकाकार हो जाना। इस प्रकार मिल जाना कि प्रकृति और प्राण में अब कोई आवरण न हो। प्रकृति ही प्राण बन जाए और प्राण ही प्रकृति। आत्मा की उपस्थिति सर्वस्व हो जाए। वह सभी जगह उपलब्ध हो, जिस प्रकार से प्रकृति की उपस्थिति होती है, जिसे प्रकृति से अलग न किया जा सके क्योंकि वह स्वयं ही प्रकृति बन चुकी है। कैलाश यात्रा पर जाने का तात्पर्य यही है कि मनुष्य इस सत्य को समझे तथा अपने भीतर स्थित कैलाश का मार्ग प्रशस्त करे। हर तीर्थ यही संकेत देता है कि उसे अपने शरीर में ढूँढ लिया जाए।

उपवास में नमक का निषेध

सनातन धर्म में उपवास की अवधारणा रखी गई। इसका मुख्य कारण यह है कि रात्रि में सोते वक्त शरीर के शेष सभी अंगों, इन्द्रियों और तंत्रों को आराम तो मिल जाता है लेकिन पाचन तंत्र रातभर काम करता रहता है क्योंकि मनुष्य रात में सोने से पहले अपना भोजन कर, उसे पचने का पर्याप्त समय नहीं दे पाता है। यदि दे भी पाए तो भोजन आँतों में रात भर पड़ा रहता है। जिससे पाचन तंत्र सदैव ही कार्य करता रहता है। सुबह मल त्याग करने के पश्चात ही आँतें कुछ खाली हो पाती हैं परन्तु सुबह फिर अल्पाहार अथवा नाश्ता कर मनुष्य फिर से अपने पाचनतंत्र को भोजन व उद्दीपन दे देता है। उपवास की मुख्य अवधारणा पाचनतंत्र को विश्राम देने के लिए रखी गई। सप्ताह में एक दिन हो जब पाचनतंत्र को पूर्ण या आंशिक विराम मिले, जिससे कि वह स्वयं को प्राप्त ऊर्जा का उपयोग अपने रख–रखाव में भी कर सके तथा स्वयं को पूर्ण रूप से साफ भी कर सके। यह ठीक उसी प्रकार से है जैसे कि दिन भर चौके में खाना बनता रहे और रात में सभी बर्तनों को धो–पोछकर उन्हें सजा कर रख दिया जाए ताकि पुनः अगले दिन उसका उपयोग हो सके परन्तु पाचन तंत्र को यह सुविधा भी उपलब्ध नहीं। शरीर क्रियाविज्ञान भी कहता है कि जब कभी भी प्राणी को भूख लगती है तो यकृत मे उपस्थित ग्लाइकोजन मनुष्य की ऊर्जा आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहता है और ग्लाइकोजन समाप्त होने के पश्चात भी यदि भोजन न प्राप्त हो तो वह शरीर की अतिरिक्त वसा को जलाकर ऊर्जा प्राप्त करने का प्रयास करता है। उपवास से यकृत में उपस्थित ग्लाइकोजन, पूर्ण रूप से उपयोग में लाया जाता है, जिससे उसका पुनः निर्माण हो सके। वह अतिरिक्त वसा जो शरीर में जम गई, उसे भी जलाकर समाप्त किया जा सके। उपवास के दिन फलाहार करने की सलाह दी जाती है। श्री युक्तेश्वर गिरी ने अपने पुस्तक में इस बात का वर्णन किया है कि मनुष्य के दाँतों का अध्ययन करने के पश्चात यह प्रतीत होता है कि मनुष्य वास्तव में फलाहारी है। फलाहार करने से शरीर को मुख्यतः फाइबर्स प्राप्त होते हैं जिससे की आँतों की पूर्ण रूप से सफाई होती हैं। आँते भी

फलाहारी भोजन को आसानी से पचा पाती हैं। फलाहार करने से मल का द्रव्यमान बढ़ता है जिससे की बड़ी आँत में पड़े पुराने मल से शरीर को मुक्ति मिलती है। उपवास में नमक का भी निषेध किया गया है। मनुष्यों को छोड़कर शेष सभी 87 लाख यूकैरियोटिक स्पीशीज में से कोई भी नमक का प्रयोग नहीं करता। उनके भोजन में नमक इतनी मात्रा में उपलब्ध होता है कि शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाए परन्तु मनुष्य ने नमक को अपने भोजन में प्रमुख स्थान दे दिया। वास्तव में मनुष्य का भोजन जिसमें कि सब्जियाँ, अन्न, और फल उपस्थित हैं उनसे शरीर को उचित मात्रा में नमक की प्राप्ति हो जाती है। अतिरिक्त नमक शरीर के लिए कतई उपयोगी नहीं, गीता में भी भगवान श्री कृष्ण ने लवण अर्थात नमक का निषेध करने की सलाह दी है। नमक उतना ही लें जितना कि भोजन में पहले से उपस्थित है अतिरिक्त मात्रा में नमक लेने की कोई आवश्यकता व उपादेयता नहीं। यह शरीर की क्रिया में बाधक बनता है। आपने कभी किसी वृक्ष को किसी अन्य जीव जन्तु को नमक खाते हुए नहीं देखा होगा, सिर्फ मनुष्य ही इसका उपयोग किया करते हैं। डॉक्टर भी भोजन में कम मात्रा में नमक लेने की सलाह दिया करते हैं। किसी भी प्रकार का नमक, चाहे वह सामान्य हो या चाहे वह सेंधा हो उसका उपयोग न करें तो उचित। इस प्रकार जो शरीर में नमक की अतिरिक्त मात्रा है उपवास के दिन शरीर उसका उपयोग कर अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण कर लेता है। श्री कृष्ण इस बात पर जोर देकर कहते हैं कि ये तुम्हारा शरीर एक यंत्र है यंत्र के भांति ही इसका रख–रखाव करो! इससे सुख लेने का कोई प्रायोजन नहीं है। यदि सुख प्राप्त होगा भी तो वह अल्पकालिक ही होगा। शरीर का प्रयोग कार्यसिद्धि में करो और उपवास वास्तव में शरीर के रख–रखाव की वैज्ञानिक विधि है। यह आपके शरीर से अतिरिक्त वसा जो आजकल समस्या बनता जा रहा है, उसको साफ करने में आपके शरीर की मदद करता है। जिससे शरीर हल्का व चुस्त दुरूस्त रह सकता है। जिससे कि मनुष्य इस शरीर रूपी यंत्र का उपयोग ज्यादा सहजता पूर्वक कर सके। एक भारी शरीर निश्चय ही आपके कार्यों में बाधक बनेगा। शरीर जितना हल्का रहेगा उतना ही सक्रिय रूप से कार्य कर सकता है व आपके लिए अच्छा सेवक बना रह सकता है।

सनातन धर्म के विश्व में न फैलने का कारण

भारतीयों ने धर्म का प्रचार अन्य देशों में क्यों नहीं किया? वास्तव में भारतीयों ने धर्म को कोई महत्ता ही नहीं दी। धर्म था ही नहीं। धर्म यदि था भी तो बहुत ही निचले व बहुत ही सूक्ष्म स्तर पर। भारतीयों ने कभी सामाजिक धर्म में रूचि ली ही नहीं और आवश्यकता भी नहीं थी। जब धर्म था ही नहीं तो उसका प्रचार कैसे करोगे? यही कारण है कि आज अधिकतर भारतीयों को सनातन धर्म के बारे में पता ही नहीं। वे तो बस सिन्धु घाटी के सभ्यता के आस-पास पाये जाने के कारण हिन्दू कहलाए। वे पहले ही जान चुके थे कि धर्म सिर्फ एक नाम, एक विचार, जीवन जीने की कला है, इसमें कुछ विशेष नहीं। अत: उन्होंने इसमें रूचि नहीं ली। इसलिये नहीं ली क्योंकि उन्हें पता था कि धर्म सिर्फ एक आवरण है। सत्य तो इसके भीतर कहीं छुपा है, आवरण में रस लेने से क्या लाभ क्या मिलेगा?

सत्य को खोजो क्योंकि वही महत्वपूर्ण है। आवरण यदि सुन्दर हुआ या फिर न भी हुआ परन्तु वस्तु यदि उच्च दर्जे की हुई तो भी आवरण की आवश्यकता नहीं। कैसा भी हो चलेगा। सामान्य हो तो भी ठीक, चमकदार हो तो कोई विरोध नहीं। परन्तु हाँ, यदि चमकदार हुआ तो कहीं यह भ्रमित न कर दे लोगों को। कुछ लोग इसकी चमक में ही न खो जाएँ। आवश्यकता नहीं इसे चमकदार बनाने की, इसे सामान्य ही रहने दो। नाम भी न दो इसका, रखना हो तो रख दो लेकिन चर्चा भी न करना इसकी। आवरण पर कुछ विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। जैसा है उसे रहने दो। जो वस्तु आवरण के भीतर छुपी है, उसके बारे में लोगों को बताओ। सुगंध तो बागीचे से ही आ रही है तो बागीचे में चलो। बागीचे के द्वार पर लिखे नाम पर जाने से क्या तात्पर्य होगा? यदि उस नाम में ही रस लेना हो तो सुगंध में रस कब लोगे? द्वार पर कुछ नाम मत लिखो, लिखो भी तो कुछ हल्के से। जो सुगन्ध प्राप्त करना चाहता हो, वह सीधे सुगन्ध तक पहुँचे, उसके लिए

मार्ग खोल दो। एक नहीं कई मार्ग बनाना। यदि कोई एक मार्ग से न प्रविष्ट हो पाए तो दूसरे मार्ग से प्रविष्ट हो जाए। दूसरे से न हो पाए तो तीसरे से हो जाए। तीसरे से न हो तो चौथे से चौथे से न हो तो पांचवे से-छठे से, लेकिन प्रविष्ट होते ही वह सुगन्ध तक पहुँच जाए, इस पर कार्य करो। द्वार पर नाम लिखने में अपनी ऊर्जा व्यर्थ मत करो।

अब सुगन्ध का कोई प्रचार करे भी तो कैसे? यदि हम गमलों में कुछ पौधे रखकर बाहर भेजते भी हैं और यदि उपयुक्त वातावरण नहीं मिला तो कदाचित सम्भव है कि पौधा मुरझा जाए। यहाँ पर हमने उचित वातावरण बना रखा है जो कोई इस सुगंध का अनुभव करेगा, वह सुगंध के पीछे-पीछे इसकी मादकता में खोया उसे ढूँढता–ढूँढता यहाँ आ ही जाएगा। यदि यहाँ वह आ जाएगा तो वो खुद ही सुगन्ध हो जाएगा। सारा काम इस सुगन्ध को जीवित रखने पर ही करो, इसकी रक्षा करो, उचित वातावरण तैयार करो। हमने सत्य को खोजा इतने प्रयासों से, अब सत्य पर वापस प्रदूषण न जम जाने दो। धूल न जमने दो ताकि हर दर्शनार्थी, सत्यान्वेशी, हर प्यासा, यहाँ आकर इसके दर्शन कर सके, इसे पा सके। अपनी प्यास बुझा सके और यहाँ आने वाला जब यहाँ के वातावरण को आत्मसात कर लेगा, समझ लेगा तथा जब आवश्यक परिस्थितियों की जानकारी उसे हो जाएगी, प्रयोग करके देख लेगा, अपना मार्ग चुन लेगा तो वह जहाँ भी जाएगा, इस सत्य के फूल की यत्न पूर्वक रक्षा करेगा। वहाँ भी वह उचित वातावरण, परिस्थितियाँ तैयार करेगा ताकि और लोग भी इस सुगन्ध को प्राप्त कर सकें, इसे पा सकें।

आओ देखो कि भारत ने इसे कैसे प्राप्त किया? कैसे अपनी पहुँच बनाई? तुम भी इसे प्राप्त करो, जानो इसे और फिर लौट कर इसके बारे में लोगों को बताओ, उन्हें समझाओ ताकि कोई इसे जानना चाहे, प्राप्त करना चाहे तो वह भी लाभ उठा सके परन्तु इसके लिए तुम्हें आकर स्वयं को तपाना होगा, स्वयं को साधना होगा। पहला कदम तो तुम्हें ही उठाना होगा, आगे के कदमों पर तो कदाचित तुम्हें पर्याप्त सहायता प्राप्त होती जाए परन्तु

निर्णय तो तुम्हें ही करना होगा। अपनी यात्रा प्रारंभ तुम्हें ही करनी पड़ेगी। तुम किसी भी दिशा में जाओ लेकिन सत्य तक तो पहुँचोगे ही क्योंकि सत्य तो हर दिशा में है। इसी कारण भारत ने बहुत पहले ही कह दिया कि–'एकम् सत्यं' अर्थात् सत्य एक है परन्तु तत्वज्ञानी उसे भिन्न-भिन्न नामों से, भिन्न-भिन्न प्रकारों से जानते हैं।

❖❖❖

ईश्वर को भोग चढ़ाना

भोग लगाने का मुख्य कारण ईश्वर को अपना प्रेमभाव अर्पित करना है। भोजन जो मन से, साफ सुथरे तरीके व भाव से बनाया जाए ताकि घर के दूसरे सभी सदस्य उस भोजन को ग्रहण कर स्वाद, संतुष्टि और अपनी ऊर्जा आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। ईश्वर को भोग अर्पित करना अर्थात जिस प्रकार भोजन बनने के पश्चात घर में उपस्थित बड़े–बुजुर्गों को भोजन सर्वप्रथम कराया जाता है ताकि वे शुद्ध व गर्म भोजन ग्रहण कर उसका तत्व व सत्व प्राप्त कर सकें। जिससे उनका स्वास्थ्य उत्तम बना रहे। जिससे उनकी कृपा व अनुभवों का लाभ व मार्गदर्शन परिवार को प्राप्त हो सके। ठीक इसी प्रकार भोग के रूप में भक्त ईश्वर को अपना भाव अर्पित करता है। वह उन्हें बताता है कि आपसे मेरा सम्बन्ध कुछ इस प्रकार जुड़ चुका है कि दिन का प्रथम या कोई भी भोजन जब मैं लूँ तो सबसे पहले आप यदि उसे ग्रहण करेंगे तो मुझे सुख प्राप्त होगा। मेरे द्वारा अर्पित किये गए भोग को स्वीकार कर, आप मुझे स्नेह प्रदान करें। यह भक्त के लिए भी आनन्द का विषय है कि उसके भोग को उसके ईष्ट ने स्वीकार

किया। भोग लगाने की प्रवृत्ति सात्विक भोजन को भी बल देती है। मनुष्य कभी मांसाहार ईश्वर को अर्पित न करना चाहेगा। भोग अर्पित कर वह ईश्वर को प्रेम के बन्धन से बाँध लेता है और सत्य के प्रति अपनी उत्कंठा भी व्यक्त करता है और यह इंगित करता है कि व्यक्ति दैनिक क्रियाकलापों में इतना व्यस्त भी न हो जाए कि सत्य के प्रति उसका कोई स्नेह अथवा उत्कन्ठा न रहे। वह अपनी सभी क्रियाओं को करता हुआ भी सत्य में जिज्ञासा प्रकट कर रहा है। सत्य अर्थात उसका अपना स्वयं का अस्तित्व, इस सृष्टि का अस्तित्व, मानवता का अस्तित्व, सभी प्राणियों, चर और अचर जीवों का अस्तित्व। सृष्टि ने हमें गुणकारी और रस से भरे फल प्रदान किये हैं। उन फलों को वह ईश्वर को अर्पित कर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। वह भोग में अर्पित किये गये फल को पाकर वह स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करता है। श्री कृष्ण भी कहते हैं कि जो कोई भी प्रेमपूर्वक मुझे भोजन अर्पित करता है मैं प्रेमपूर्वक उसे स्वीकार करता हूँ। यदि उसका भाव शुद्ध है तो मैं अवश्य उस भोजन को स्वीकार करता हूँ। इस प्रकार लगाया गया भोग शुद्धचित्त व भावशील भक्त को भगवान से जोड़ देता है। ईश्वर सभी प्राणियों को भोज्य पदार्थ, अन्न, फल इत्यादि प्रदान करते हैं। मनुष्य उसी भोजन को ईश्वर को अर्पित कर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। कृष्ण यह भी सलाह देते हैं कि यज्ञ करने के पश्चात बचा हुआ अन्न तुम ग्रहण करना अर्थात भोजन बनने के पश्चात् अन्य प्राणियों को जिन्हें उनकी आवश्यकता है उन्हें अर्पित कर, तब तुम भोजन ग्रहण करना। इस प्रकार तुम्हारा भोजन, भोजन न रहेगा प्रसाद बन जाएगा और यह क्रिया एक यज्ञ बन जाएगी।

सनातन धर्म उदार क्यों?

शुद्ध सदैव ही उदार व लचीला होगा व सबको आत्मसात करने वाला होगा। वह सबके लिए समान रूप से उपलब्ध रहेगा व सबको स्वतंत्रता और सम्मान भी देगा। वह मानने वालों में भी उतना ही स्नेह रखेगा जितना कि न मानने वालों में। उसके लिए न अपना कोई है और न पराया। धर्म जब आध्यात्म से जुड़ जाता है वह सदैव ही उदार हो जाता है। धर्म तो वृक्ष का वह भाग है जिसे आँखें देख सकती हैं परन्तु जड़ें जिन्होंने धर्म को थाम रखा है, आधार दे रखा है, स्थिरता प्रदान की है, भोजन व जल प्रदान करती हैं, वे पृथ्वी अर्थात अध्यात्म में कहीं नीचे तक धँसी होती हैं। वे दिखाई नहीं देती। वे नेपथ्य में रहकर अपना कार्य शान्तिपूर्वक करती हैं। यही है उनकी उदारता। हर धर्म का उदार पक्ष है। यही है हर धर्म में छिपी अध्यात्मिकता। यह पृथ्वी की उदारता ही है कि स्वयं पर मल–मूत्र त्याग किये जाने के बाद भी वह हमारा निषेध नहीं करती। हमारे लिए भी उसके पास उतना स्नेह है जितना कि परमात्मा के लिए, दोनों में कोई अन्तर नहीं। किसी का कोई विरोध नहीं, किसी से कोई अपेक्षा नहीं और किसी की उपेक्षा भी नहीं। एक वास्तविक धर्म ऐसा ही तो हो सकता है। सबको साथ लेकर चलने वाला, सबको आत्मसात करने वाला, सबको प्रेम देने वाला।

हर एक धर्म में उदारता के तत्व उपस्थित हैं। बस कहीं वह कम प्रचलित हैं और कहीं ज्यादा। यदि धर्म उदार ही न हुआ तो अपनी प्रासंगिकता खो देगा। हर तने हुए पेड़ के सामने यह खतरा होता है कि आँधी उसका अस्तित्व मिटा देगी। इसलिए उस वृक्ष को अपने तनों को लचीला भी बनाना पड़ेगा और यही तत्व पूरी सृष्टि में नजर आता है। धर्म जो सत्य को खोजने का प्रयास करता

है, वह इस मुख्य तत्व को कैसे भूल सकता है? कृष्ण कहते हैं कि सभी भूतों अर्थात सभी प्राणियों को तुम मुझमें ही स्थित देखना और हर एक प्राणी में तुम मेरा ही स्वरूप देखना। अब चाहे वो किसी भी रंग, वर्ण, अवस्था, धर्म, जाति, सम्प्रदाय तथा मार्ग, पंथ से क्यों न आया हो क्योंकि सबके होने का कारण सिर्फ एक है– 'सिर्फ एक ज्योति'।

यह हमारी अज्ञानता है कि हमने सभी में विभेद किया, अपनी आँखों द्वारा प्रदत्त सूचनाओं के आधार पर। लेकिन आँखें तो सिर्फ पदार्थ को ही देख सकती हैं। सूक्ष्मता को ग्रहण करने के लिए जिन चक्षुओं की आवश्यकता होगी वे तुम्हें यही बताएंगी कि हर एक प्राणी के भीतर कारण सिर्फ एक ही है। बस किसी ने उसे पहचान लिया और कईयों ने उसे नहीं पहचाना, अन्तर मात्र इतना है। गुण सदैव अंहकार को जन्म देंगे और अंहकार कट्टरता को इसीलिए कृष्ण ने कहा कि गुणों से परे चले जाना। गुणों में आसक्त मत हो जाना। यदि आसक्ति रखनी ही है तो सत्य के प्रति रखना। पदार्थ में मत रखना क्योंकि पदार्थ तो ऊर्जा है, उसका स्वरूप बदलते ही वह तुम्हारी दृष्टि से ओझल हो जाएगी। इस प्रकार तुम्हें कुछ भी प्राप्त न होगा परन्तु सत्य सदा उपस्थित था, उपस्थित है और उपस्थित रहेगा। सनातन धर्म ने ईश्वर प्राप्ति के अनेक मार्गों की रचना की जिसमें मुख्यतः प्रेम, ज्ञान, भक्ति, विवेक, सेवा और योग है। संसार के सभी प्रमुख धर्मों में आप इन्हीं तत्वों का दर्शन करेंगे। सभी को अपना मार्ग चुनने की आजादी दी गई व सलाह भी कि अपने–अपने स्वभाव के अनुसार अपना मार्ग चुन लो। तुम्हारा टकराव किसी से नहीं है। ये सभी मार्ग एक ही दिशा की ओर जाएँगे, गन्तव्य एक ही है, मार्ग भिन्न–भिन्न हैं। हितों के टकराव जैसी कोई बात नहीं। सभी सत्य को ही प्राप्त करने की कोशिश कर रहे हैं और सत्य सदैव सभी के लिए समान रूप से उपस्थित है। उसे

उदारता और प्रेम द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। तो कोई भले ही तुमसे घृणा करे तुम उससे प्रेम ही करना। उसकी घृणा उसकी अज्ञानता है और तुम्हारा प्रेम तुम्हारा तत्वज्ञान। उसकी घृणा अभी गुणों में आसक्त है और तुम्हारा प्रेम गुणातीत अवस्था। कट्टरपंथ सिर्फ एक संस्कार है, अल्पकालिक संस्कार। कुछ एक जन्मों में प्राणी इससे भी पार पा ही जाएगा क्योंकि उसके पास सिर्फ आगे बढ़ने का ही मार्ग उपलब्ध है। एक न एक दिन वह इस बन्धन को भी तोड़ ही देगा। बन्धन होते ही इसलिए हैं कि एक दिन वो टूट जाएँ परन्तु प्रेम तो समाहित करता है जिस प्रकार सागर, नदियों को अपने भीतर समाहित कर लेता है। नाम अहंकार का कारण बन जाते हैं, इस कारण भारत में कभी सनातन धर्म के नाम के प्रचार में अपनी रूचि व्यक्त न की क्योंकि उनका पूरा का पूरा कार्य ही अहंकार के पार जाने का था। वे जानते थे कि नाम मात्र एक विचार है। सम्बोधित करने के लिए एक अक्षरों का समूह परन्तु सत्य सभी विचारों के पार है। उसे प्राप्त करने हेतु तुम्हे भाव में उतरना होगा और भाव का आनन्द उसका वर्णन करने में नहीं, उसे प्राप्त कर लिये जाने में है, उसे जी लिये जाने में है, उसका स्वाद ले लिये जाने में है। इस प्रकार सनातन धर्म ने सागर बनना स्वीकार किया, आत्मसात करना स्वीकार किया, आश्रय देना स्वीकार किया। विरोध उसकी प्रणाली में न था। उसने आधार बनाया तो सिर्फ प्रेम को और दूसरा कौन सा आधार हो भी सकता था क्योंकि ईश्वर स्वयं प्रेम है, आत्मा स्वयं प्रेम है, ज्ञान है।

ब्रह्म

ब्रह्म सभी चर-अचर जगत की उत्पति का कारण है। ब्रह्म वह है जिसके कारण प्रकृति है और अप्राकृतिक भी। ब्रह्म वह है जिसके कारण माया है। ब्रह्म के कारण ही गुण है, ब्रह्म के ही कारण जीवनलीला है। ब्रह्म स्वयं निराकार व निर्गुण है। वह ठीक सबके सामने है परन्तु वही छिपा भी हुआ है। ब्रह्म वही है जिसके कारण ज्ञान है, ब्रह्म के सिवा कुछ भी नहीं है। ब्रह्म वही है जो सबको पूर्ण स्वतंत्रता देता है कर्म करने की। ब्रह्म वही है जो नियंत्रण भी देता है और समर्पण भी। ब्रह्म ही प्रेम का एकमात्र स्त्रोत है। ब्रह्म ही जानने योग्य है। ब्रह्म ही तत्व है, ब्रह्म ही सत्व है, ब्रह्म ही आनन्द है, ब्रह्म ही निर्विचार है। ब्रह्म ही ब्रह्म है तथा ब्रह्म के सिवा किसी अन्य तत्व का कोई अस्तित्व नहीं। ब्रह्म ही अहंकार की स्वतंत्रता देता है और शून्यता की भी। ब्रह्म के कारण परिवर्तन है और ब्रह्म ही अपरिवर्तनीय भी। ब्रह्म ही ज्ञान योग का परमलक्ष्य है। ब्रह्म ही माँ है और पिता भी। ब्रह्म ही सभी कारणों का परमकारण है।

प्रेम

धर्म प्रेम के द्वार से आगे नहीं बढ़ पाता क्योंकि प्रेम के द्वार पर आपका स्वागत स्वयं कृष्ण करते हैं। धर्म की सीमा प्रेम तक है। उसके आगे धर्म का कोई काम नहीं। धर्म आपकी वाह्य यात्रा हेतु आवश्यक है परन्तु आन्तरिक यात्रा में सिर्फ आत्म का अध्ययन, अर्थात् अध्यात्म का कार्य है। हो सकता है कि धर्म की दहलीज पर आप जन्मों तक रुक जायें परन्तु आना आपको भीतर ही पड़ेगा। मार्ग इधर से ही होकर जायेगा और कोई मार्ग नहीं है इसलिए कृष्ण ने कहा कि समत्व के भाव में आ जाओ। कोई तुम्हें दूसरा न दिखायी पड़े, कोई छोटा या बड़ा न दिखायी पड़े। तुम्हारे लिए किसी जाति, किसी धर्म का बँधन न रह जाये। तुम व्यक्तियों को जाति के रूप में न देख कर, किसी विशेष धर्म से आया हुआ न देखकर, उसे प्रेम स्वरूप देखो।

प्रेम के द्वार पर जो आपको पहली सीढ़ी मिलेगी वो होगी समत्व की। मूल स्वरूप प्रेम को दर्शाता है, हर धर्म का मूल स्वरूप सिर्फ स्त्रोत की तरफ इंगित करता है लेकिन मूल स्वरूप के साथ की गयी छेड़छाड़ और कालान्तर में आयी अशुद्धियों ने धर्म को बहुत ही संकुचित कर दिया। इसलिए कृष्ण ने कहा है कि सबसे पहला कार्य यही करना कि समत्व में आ जाना, फिर तुम्हारे लिए ना कोई घर का, ना कोई बाहरी रह जायेगा। सब तुम्हारे अपने हो जायेंगे।

तुम्हें किसी से विशेष प्रेम करने की आवश्यकता नहीं होगी। किसी को ज्यादा प्रेम देने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी क्योंकि तुम्हारा प्रेम बिना किसी कारण, बिना किसी स्वार्थ के उपलब्ध होगा। फिर वो ज्ञानी पुरुष हो या कोई पशु या कोई वृक्ष, तुम्हारे लिये कोई अन्तर न रह जायेगा। यदि आपने इस जीवनकाल में इस धर्म के संकुचित दायरे से बाहर छलाँग लगा ली तो निश्चित जानिये कि अगली यात्रा आन्तरिक पथ से शुरू होगी। धर्म कि दहलीज पर जितने दिन रुक गये, जितने साल रुक गये, उसका कोई तात्पर्य नहीं। वो रुकना पूर्ण

रुकना ही है परन्तु चलना तभी शुरू होगा, जब छलाँग लगेगी। स्वयं को उस छलाँग के लिए तैयार कीजिए। प्रेम जीवन का शाश्वत सत्य है और क्रोध माया का। प्रेम शाश्वत है और क्रोध अल्पजीवी। सत्य अल्पजीवी नहीं हो सकता। प्रेम ऊर्जा का सतत् प्रवाह है और क्रोध अनियन्त्रित ऊर्जा विस्फोट। प्रेम ईश्वर तक पहुँचने के कई मार्गों में से एक है और क्रोध माया का अंग। प्रेम आत्मा का द्योतक है और क्रोध मन का। प्रेम एक अवस्था है और क्रोध अव्यवस्था।

सत्य का माया से भी क्रोध नहीं। पूर्णतया विपरीत होने के पश्चात् भी, सत्य माया के साथ ८४ लाख योनियों मे भटक कर आने के पश्चात् व लाखों वर्ष एक साथ व्यतीत करने के पश्चात् भी क्रोधित नहीं और क्रोध सबसे पहले स्वयं का ही अहित कारक है। अहंकार के फलस्वरूप ही क्रोध की उत्पत्ति है परन्तु, अहंकार को ही कष्ट देने में क्रोध को कहीं ठिठक नहीं।

एक परमाणु के केन्द्र पर भी प्रोटॉन व न्यूट्रॉन के बीच बँधन अर्थात् प्रेम है, क्योंकि न्यूट्रॉन की तटस्थता चयन नहीं करती। यह सहज व सर्वसुलभ है। केन्द्र व इलेक्ट्रॉनों के बीच भी आकर्षण है, क्रोध नहीं। यह आकर्षण अथवा प्रेम ही परमाणु का अस्तित्व बने रहने का कारण है। अणुओं में भी परमाणुओं के बीच आकर्षण है। प्रेम ऊर्जा का सतत् प्रवाह है जो सृजन का कारण है। नाभिकीय रिएक्टर में नियंत्रित चेन क्रिया विद्युत की उत्पत्ति करती है। जो आज अनेके देशों को उनकी उर्जा आवश्यकताएँ पूर्ण करने में सहायक है व भविष्य की ऊर्जा का मुख्य स्त्रोत है। अनियंत्रित चेन प्रतिक्रिया परमाणु बम की जनक है, जिसका प्रभाव विश्व ने 'हिरोशिमा, नागासाकी व चेर्नोबिल में देख लिया है।'

सूर्य में शांतिपूर्वक चल रही नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया से सौर मण्डल को ऊर्जा प्राप्त होती है। यही ऊर्जा पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति का कारण है परन्तु सूर्य में ही यदाकदा होने वाले अनियंत्रित ऊर्जा विस्फोट (सौर आँधियाँ) पृथ्वी पर हलचल मचाने को समर्थ हैं।

यह सूर्य का प्रेम ही है जो पृथ्वी पर अविरल ऊर्जा प्रवाहित करता है। वह ऊर्जा जो जीव की उत्पत्ति का कारण है। अन्न की पैदावार का कारण व उसमें उपस्थित सत् का कारण है। वह सौर ऊर्जा जो जीवन का पालन भी करती है और जीवन की रक्षा भी। यह सूर्य का प्रेम ही है, जो पृथ्वी को ब्रह्मांड में कहीं गुम हो जाने से रोकता है अर्थात् उसे सौर मण्डल के केन्द्र की ओर खींचे रहता है।

सूर्य का यह प्रेम अकारण है, नि:स्वार्थ है। यदि आज हम पृथ्वी पर अपने जीवन चक्रों को चला रहे हैं, और आपस में क्रोध, निन्दा, विरोध, युद्ध और नरसंहार करने में समर्थ है, तो सिर्फ इस कारण से कि सौर मण्डल में कोई दिव्य प्रेम शक्ति है। जो हमारे जीवन को सिंचित व पोषित कर रही है और इस प्रेम को प्रदान करने में न उसका कोई निजी हित है और न ही कोई लोभ। वह शक्ति हमें पूर्ण स्वतंत्रता देती है। अपने अनुसार अपना जीवन चलाने की स्वतंत्रता। उसने हर एक को उसकी परिधि में समान स्वतंत्रता दे रखी है। अच्छा व बुरा करने की भी स्वतंत्रता। वह शक्ति यदि कोई नियम जानती व मानती है तो वह है कि स्वयं भले ही ताप व जलन के बीच ही जीवन बीते, परन्तु कोई तो इस प्रकाश से प्रकाशित होता रहे। कोई तो इस ताप से जीवनी शक्ति लेता रहे। मेरी तपन किसी के तमस का प्रकाश बन जाए। वह हस्तक्षेप नहीं करती क्योंकि प्रेम कभी हस्तक्षेप नहीं करता। स्वतंत्रता बाधित नहीं करता, लोभ, अपेक्षा, उपेक्षा, पक्षपात नहीं करता। पात्रता नहीं देखता। क्रोध का दायित्व आप प्रकृति पर छोड़ दें। प्रकृति जो सदैव से जीवन देती आई है, जो माँ है। कभी-कभी क्रोध भी करती हैं परन्तु प्रकृति में कुछ भी अकारण नहीं होता है। प्रकृति के क्रोध में भी भविष्य की सम्भावनाएँ छिपी होती हैं। उसके क्रोध का कारण, कभी-कभी दैवीय तो कभी-कभी मानव निर्मित होता है। दैवी क्रोध के पीछे सदैव निश्चित कारण छिपे होते हैं।

साधना

साधना अर्थात् 'साध लेना'। ईश्वर को अपने कर्मों, गुणों, प्रयासों तथा गुणातीत स्वभाव, तपस्या व योग द्वारा साध लेना ही साधना का मूल तत्व है। ईश्वर को साधने हेतु सर्वप्रथम माया को साधना होगा क्योंकि परिधि पर तो माया ही है। व्यक्ति माया में ही उलझा हुआ है, अतः साधना प्रारंभ होती है परिधि से। माया को साधते हुए शरीर के माध्यम से व विभिन्न मार्गों के अनुसरण से व्यक्ति अपने केन्द्र की ओर यात्रा करता है।

साधना का तात्पर्य ही हुआ कि अपने शरीर का उपयोग सत्य प्राप्ति के निमित्त किया जाए। साधना अर्थात शरीर को साधन बना मन को साध तत्पश्चात् सत्य को साधना। साधना अर्थात माया में फंसे न रहकर, सत्य की ओर अपनी यात्रा को बल देना। साधना अर्थात जीवन के तत्व को समझने का प्रयास करना। साधना अर्थात सृष्टि के रहस्यों में अपनी जिज्ञासा व्यक्त करना। साधना अर्थात कोलाहल से दूर शान्ति की ओर अपनी यात्रा तय करना। साधना अर्थात प्रकृति को माध्यम बना सत्य को जानने का प्रयास करना। साधना अर्थात वाद–विवाद नहीं, समाधान में रूचि लेना। साधना अर्थात अपने आन्तरिक लक्ष्य निर्धारित करना व उनको पाने का प्रयास करना, साधना अर्थात समाज से सत्य की ओर जाना। साधना अर्थात शारीरिक भूख नहीं, आन्तरिक प्यास को महत्ता देना। साधना अर्थात साधन सम्पन्नता से सत्य सम्पन्नता की ओर जाना।

साधना अर्थात आत्म अवलोकन से आत्मज्ञान की ओर जाना। सफलता व संतुष्टि प्राप्त करने के पश्चात संतृप्ति की ओर बढ़ जाना। इन्द्रियों पर निर्भरता समाप्त कर, अपनी चेतना को सम्पन्न बनाना। अपनी बाहर जाती ऊर्जा को 180^0 के कोण अर्थात भीतर की ओर मोड़ देना। अपरा से परा की ओर जाना। सामाजिक पद नहीं अपितु परमपद की ओर बढ़ना। वास्तविक रूप में पहली बार आत्मनिर्भरता की

ओर बढ़ना। विद्या से ज्ञान की ओर जाना। अपने भीतर का वह द्वार खोलना जो चेतना का चैतन्य से सम्बन्ध स्थापित करता है। जीवन के परम लक्ष्य का साक्षात्कार करना और उसमे नित्य स्थिति प्राप्त करना। ब्रह्माण्ड से पुनः जुड़ाव प्राप्त करना और उस जुड़ाव के फलस्वरूप जीवन सम्बन्धित रहस्यों तक पहुँच प्राप्त करना। सम्मान से सम्बन्ध तोड़ समत्व में स्थिति प्राप्त करना। स्वयं तक पहुँच, आत्मसाक्षात्कार करना।

❖❖❖

पंचतत्व

पंचतत्व अर्थात पंचमहाभूत, इनमें पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु और आकाश आते हैं। पृथ्वी अर्थात जिसमें से सभी तत्व अयस्क के रूप में खनन कर निकाले जाते हैं और इन्हीं तत्वों का उपयोग शरीर निर्माण में भी होता है। जैसे कि आयरन, कैल्सियम, पोटैशियम, सोडियम इत्यादि।

अग्नि जो शरीर में भोजन का पाचन करती है तथा शरीर के तापमान को नियत रखती है। शरीर का अधिकतर भाग जल है और इसी में सभी तत्व घुले होते हैं। वायु आक्सीजन व कार्बन डाई ऑक्साइड जिससे मनुष्य प्राण–वायु और अपान–वायु भी कहते हैं। आकाश जो शरीर को हल्कापन प्रदान करता है तथा जो शून्य है अर्थात इस शरीर का निर्माण भी उन्हीं तत्वों से मिलकर हुआ जो शरीर के चारों तरफ वातावरण में विद्यमान है। शरीर को जला दिए जाने के बाद वापस ये सभी चीजें वातावरण में वापस लौट जाते हैं। इसी कारण शरीर को सत्य नहीं माना गया क्योंकि यह नश्वर है। इसी कारण कृष्ण इसे यंत्र कहते हैं

तथा प्राणियों को चेताते हैं कि इस शरीर को अपना अस्तित्व मत मानने की भूल कर बैठना। इसे एक यंत्र के रूप में प्रयोग में लाना। जिससे तुम उन कार्यों को सम्पादित कर सको, जिन कार्यों को करने हेतु तुम्हारा अवतरण पृथ्वी पर हुआ है। इन्हीं पंचतत्वों से बने होने के कारण इसे माया का प्रतिनिधि माना गया तथा इसके द्वारा रूचि लिये जाने वाले विषयों में व सिर्फ शरीर की सुख–सिद्धि में अमूल्य समय को बर्बाद न करने की सलाह दी गई। वास्तव में पंचतत्व जीव को एक माध्यम उपलब्ध करवाते हैं जिनके द्वारा वह सत्य प्राप्ति तथा ईश्वर प्राप्ति के उद्देश्य को पूर्ण कर सकें क्योंकि कर्म इसी पार्थिव शरीर द्वारा ही किया जा सकता है। इसी कारण इसकी उपयोगिता भी है। इन पंचतत्वों से निर्मित शरीर को नुकसान न पहुँचाना व ऐसे व्यसनों से बचना, जो इसे क्षति पहुँचाते हैं। उनसे प्राणी को अलग रहना ही उचित है। इन्हीं पंचतत्वों से पदार्थ का निर्माण होता है। जिन पदार्थों से ग्रहों, उपग्रहों का निर्माण होता है, उन्हीं से शरीर का भी निर्माण होता है। इसी कारण ग्रहों की चाल का, इस शरीर पर प्रभाव पड़ता है। ज्योतिष वह विज्ञान है जो विभिन्न ग्रहों के शरीर से सम्बन्ध व उनके परस्पर प्रभावों का अध्ययन करता है। पंचतत्वों से बने इस शरीर के माध्यम से ही जीवात्मा सफलता व संतुष्टि की प्राप्ति करती है। यही कारण है कि पार्थिव शरीर को दुर्लभ माना गया। जीवात्मा इस शरीर के माध्यम से ही अपने वास्तविक अस्तित्व को प्राप्त करती है। पदार्थ की संरचना में परिवर्तन को ही मन अतीत व भविष्य की संज्ञा देता है तथा पदार्थ से जीवात्मा के जुड़ाव का उपयोग वह भ्रम और असुरक्षा उत्पन्न करने में करता है।

❖❖❖

कर्मकाण्ड

सनातन धर्म के दो भागों में एक भाग है कर्मकाण्ड व दूसरा भाग है ज्ञानकाण्ड। हर मनुष्य के पास कर्मेन्द्रियाँ उपलब्ध हैं, जिनका उपयोग वह विभिन्न कर्मों को पूर्ण करने में करता है। जीवन में सफलता व संतुष्टि प्राप्त करने हेतु मनुष्य विभिन्न कर्मकाण्डों को करता है। कर्मकाण्डों का सम्बन्ध व्यक्ति के व्यक्तित्व से है। व्यक्तित्व को केन्द्र में रखकर किये गए सभी कार्य कर्मकाण्ड कहलाते हैं। इन्द्रिय व विषयों को संतुष्टि हेतु किये गए सभी कार्य कर्मकाण्ड की श्रेणी में आते हैं। कर्मकाण्ड व कर्मयोग में अन्तर यह है कि कर्मकाण्ड के माध्यम से संतुष्टि व कर्मयोग के माध्यम से संतृप्ति प्राप्त की जाती है।

मनुष्य के जीवन का वह भाग जिसमें मनुष्य कर्मों को स्वयं के द्वारा होते हुए देखकर उनके फलों में रुचि रखता है, कर्मकाण्डिय पक्ष कहलाता है। जैसे पंखा अपने चलने के लिए ऊर्जा बिजली से प्राप्त करता है, वैसे ही मनुष्य अपने कर्मों के लिए ऊर्जा प्रकृति की शक्ति से प्राप्त करता है। इस प्रकार हर कर्मकाण्ड के मूल में प्रकृति व उसके द्वारा प्रदत्त गुण हैं। कर्मकाण्डों से कर्मयोग की तरफ बढ़ जाना ही साधना है। कर्मकाण्डिय अनुष्ठान विद्वानों द्वारा सम्पन्न करवाए जाते हैं, जिनका प्रयोजन इच्छित कर्मों की सिद्धि है। अनुष्ठान में देवताओं का आह्वान किया जाता है, जो इच्छित फल प्रदान करते हैं।

कर्मकाण्डीय अर्थात वे व्यक्ति जो कर्म में रुचि लेते हैं। जो अभी इच्छाओं से घिरे हैं तथा जिनकी आकाक्षाएँ अभी समाप्त नहीं हुई और वे इनकी सिद्धि हेतु प्रार्थना, यज्ञ, अनुष्ठान व सकाम पूजा का आयोजन करते हैं। वे जो सांसारिक जगत और इसके आकर्षणों में रूचि लेते हैं। वे जो ऐश्वर्य, धन, सुख, सम्पदा,

सम्पति प्रति आकर्षण रखते हैं और मोह में फंसे रहकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। वे जो अतीत की सुखद कल्पनाओं में आसक्त हैं या अतीत की दुखद स्मृतियों से आक्रान्त तथा भविष्य में अत्यन्त रुचि लेते हैं। वे जिनके लिए वर्तमान का कोई अस्तित्व नहीं। वे वर्तमान को इसलिए जीते हैं ताकि भविष्य को सुन्दर व सम्पन्न बनाया जा सके। वे जो गुणी हैं तथा अपने गुणों के संवर्धन में सदैव रुचि लेते हैं। वे जिनके लिए जीवन साधन–सम्पन्नता की यात्रा है। वे जिनके लिए जीवन सुखों की खोज है। वे जिनके लिए जीवन चरम पर पंहुचने की यात्रा है। वे जिनके लिए जीवन कर्मों की यात्रा है। वे जो ये मानते हैं कि अच्छे कर्मों को सिर्फ इसलिए किया जाए क्योंकि उनके फल अच्छे होते हैं। अच्छे कर्मों द्वारा सुख प्राप्त होता है, स्वर्ग प्राप्त होता है। वे जो द्रव्यमयी यज्ञ और उसके फल में रुचि रखते हैं। वे जो संस्कारों से बँधे धर्म के सम्बन्ध में संकीर्ण सोच रखते हैं।

सत्यम् शिवम् सुन्दरम्

सत्य ही शिव हैं और शिव ही सत्य हैं। एकमात्र सत्य ही सुन्दर हो सकता है क्योंकि वह अविनाशी है। यह शरीर तो अपने जीवनकाल में ही सुन्दरता प्राप्त कर, अन्त में अनिच्छापूर्वक उससे वंचित भी हो जाता है। शिव सत्यस्वरूप हैं और सत्य ही इस सृष्टि का परमतत्व है। इस शरीर के मोह में पड़कर सत्य को न ढूँढना, ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार मार्ग में पड़े हुए हीरे को सिर्फ इसलिए छोड़ देना कि हीरा मार्ग में पड़ा हुआ नहीं मिल सकता। वह तो सिर्फ जौहरी के दुकानों पर मिलता है। ठीक उसी प्रकार से ये शरीर पाकर उस अवसर से चूक जाना, ठीक इसी प्रकार से है कि जौहरी की दुकान पर जाकर हसरत भरी निगाहों से हीरों को देखना परन्तु जब वह प्राप्त हुआ था तो अपनी अज्ञानतापूर्वक उसको मार्ग में वैसे ही छोड़ दिया। इसी कारण ज्ञान ही खेवनहार हैं। ज्ञान हाथ आए मौके को चूकने नहीं देता और उचित अवसर पर उचित मार्ग प्रदर्शित करता है परन्तु अज्ञानता सदैव अतृप्त रहती है। सत्य निर्गुण है इसलिए जब किसी प्राणी में सुन्दरता खोजनी हो तो उसके शरीर, चेहरे और उसके गुणों पर न जाना। उसके भीतर उपस्थित निर्गुणता को देखना, क्योंकि वास्तव में निर्गुणता ही सत्य है और वही सुन्दर भी है क्योंकि वो पक्ष न लेगी। तुमसे असत्य न कहेगी, तुमको भुलावा न देगी, तुमको मोह के बन्धन में न बाँधेगी, तुम्हें सांसारिक व अनुचित लक्ष्य न देगी, वह तो तुम्हारे भीतर स्थित गुणों पर कार्य करेगी। उन्हें निर्गुणता में बदल देने का प्रयास करेगी, मार्ग दिखाएगी, साथ देगी क्योंकि यही तो वो करती आई है, जबसे तुम्हारा जीव के रूप में इस पृथ्वी पर अवतरण हुआ। लाखों–लाखों वर्ष पूर्व। और इसी प्रेम की परिणति यह है कि उसने एक पल को भी तुम्हारा साथ न छोड़ा। मार्ग में लाखों यात्री आए और चले गए लेकिन किसी ने तुम्हारी ओर ध्यान भी न दिया परंतु तुम्हारी आत्मा जो

स्वयं निर्गुण व निराकार है उसने कभी तुम्हारा साथ न छोड़ा। उसने तुम्हारे विभिन्न जन्मों तथा मृत्यु में, सुख तथा दुख में, द्वन्द, सरलता तथा सहजता में, अस्पष्टता और व्यग्रता में यहाँ तक की पाप में भी उसने तुमको एक पल के लिए भी न छोड़ा। इसी कारण एकमात्र सुन्दर वही हो सकती है। इसी कारण सत्य ही एकमात्र सुन्दर हो सकता है। अपने जीवन के सुन्दर तत्व को पहचानना और उसे प्राप्त करने का प्रयास करना, यही इस जीवन का लक्ष्य है।

❖❖❖

ईश्वर एक है। सत्य एक है।

रमेश, रहीम, रब्बी, रमनदीप और रेडमंड सभी सत्य हैं परन्तु उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं है। रमेश कहता है कि मेरा मार्ग सही। रहीम अपने मार्ग अड़ा है। रेडमंड के हिसाब से उसका मार्ग ही सच्चा मार्ग है परन्तु हैं तो सब मार्ग ही। और वे मार्ग जिस एक गंतव्य पर पहुँचेंगे, रमेश से लेकर रेडमंड तक सभी उसी एक जगह पहुँचेंगे लेकिन होड़ इस बात की लगी है कि किसकी विचारधारा, किसकी सोच और किसका प्रयास ज्यादा श्रेष्ठ है।

संसार के अनेक भागों में अनेकों तत्वदर्शियों ने उस परमसत्य की व्याख्या करने की कोशिश की। उन सभी के प्रयास का तात्पर्य सिर्फ यही था कि यह सत्य जो मुझे प्राप्त हुआ तुम्हें भी प्राप्त हो सकता है, तो तुम भी क्यों नही ढूँढ लेते। मैं तुम्हें वह मार्ग बताता हूँ, जिस मार्ग पर चलकर मैंने इसे प्राप्त किया। व्यक्ति अलग, गुण अलग, स्वभाव भी अलग–अलग, मार्ग भी अलग ही होने थे लेकिन मंजिल सभी की एक ही है, उस ईश्वर को, उस सत्य को पा लेना। परन्तु

वास्तव में उस एक सत्य को पाना भी कौन चाहता है? कृष्ण ने कहा कि हजारों में कोई एक इसके बारे में सोचता है और उनमें से भी एक कोई इस बारे में प्रयास करता है।

सत्य की आवश्यकता बहुत कम लोगों को है परन्तु सत्य के चमकीले आकर्षण में सभी आकर्षित हुए जाते हैं। मार्ग एक आवरण ही है। किसी मार्ग पर किसी रंग की रोशनी तथा किसी और मार्ग पर किसी और रंग की रोशनी परन्तु ये सभी कृत्रिम रोशनियाँ हैं। जो परमप्रकाश है वो सभी के लिए एक है। इस एक सामान्य बात को भी कोई स्वीकार नहीं करना चाहता। गूढ़ व्याख्याओं में सभी की रूचि है। एक दूसरे के ऊपर श्रेष्ठता सिद्ध करने को सभी व्यग्र हैं परन्तु जल जो नदी अपने साथ लेकर आती है, वह जल सभी के लिए समान रूप से उपलब्ध है। वायु जो बहती है, वह सभी के घरों में एक समान रूप से उपस्थित है। वह ठण्ड, वह गर्मी, वह मौसम परिवर्तन, वो अन्न, वो फल सभी के लिए समान रूप से उपलब्ध हैं और प्रकृति सभी को आश्रय देती है।

इस सामान्य तथ्य पर न जाने कोई ध्यान क्यों नही देना चाहता। नाम चाहे कुछ भी रख लेना परन्तु भाव सभी का समान हो सकता है। ईश्वर को नाम में कभी रूचि न थी, न होगी। वो सिर्फ भाव देखेंगे और वे वही देखते हैं। तुम उन्हें किसी नाम से पुकारना चाहो, पुकारो, तुम्हारी इच्छा। नाम न देना चाहो तुम्हारी इच्छा। वे दोनों ही परिस्थितियों में तुम्हारे लिए समान रूप से स्थित हैं। नामों को नष्ट करो और अनाम बनकर उनकी खोज प्रारंभ करो। यदि तुमको भूख मिटाने को भोजन मिलता है, प्यास मिटाने को जल मिलता है तो ईश्वर भी कभी न कभी अवश्य प्राप्त हो सकते हैं। बस जितनी तड़प उस भोजन और जल के लिए है, वही तड़प उनको खोजने में भी लगा के देखो।

सत् चित् आनन्द

जब आप पूर्ण सत्य हो जाते हैं, तब आप कैवल्य में प्रविष्ट हो जाते हैं। कैवल्य अर्थात शरीर शून्यता, बन्धन शून्यता, अंहकार शून्यता। आप इस सृष्टि में चारों ओर फैली हुई शान्ति का ही एक भाग हो जाते हैं। आपका स्वयं का कोई अस्तित्व नहीं बचता। सिर्फ शान्ति ही आपका अस्तित्व है। आप वहाँ होते भी हैं उसका भाग भी होते हैं परन्तु उससे अलग नहीं होते, वही पूर्णता है। उस शान्ति में प्रविष्ट होने के पश्चात आपका चित्त मात्र साक्षी बनकर रह जाता है और आनन्द में पूर्णतया डूब जाता है। यह आनन्द है परमतत्व का आनन्द, निर्गुणता का आनन्द, निराकारता का आनन्द, स्वतंत्रता का आनन्द, कुछ भी न होने का आनन्द, हर जगह होने का आनन्द, साक्षी होने का आनन्द, परम–शून्यता का आनन्द। यही निर्गुण, निराकार, अविनाशी तत्व ही ईश्वर है और इसी कारण उन्हें सच्चिदानंद कहा जाता है। अहंकार आपको जड़ता देता है, बाँध देता है और अहंकार शून्यता आपको मुक्त कर देती है। वह निर्गुण ईश्वर ही मात्र जानने योग्य और पाने योग्य है। आप आनन्दित तभी हो सकते हैं जब आपकी स्वयं की सत्ता गिर जाए आप इस सृष्टि के ही भाग हो जाएँ। आप हर जगह उपस्थित हो सभी बन्धनों से दूर हो जाएँ। याद रखिए ये शरीर भी एक बँधन है लेकिन एक अवसर भी है बँधन से बँधनहीनता में छलांग का, उस अप्राप्त को प्राप्त कर लेने का।

❖❖❖

भीष्म का उत्तरायण में शरीर त्याग

महाभारत के युद्ध में जब भीष्म का शरीर बाणों से बिंध गया और वह शरशैया पर लेटे हुए थे, तब उन्होंने यह इच्छा व्यक्त की कि सूर्य के उत्तरायण में आने पर ही शरीर त्यागूँगा क्योंकि उन्हें इच्छा-मृत्यु का वरदान प्राप्त था। अत: उन्होंने प्राणों को तब तक रोक कर रखने का निश्चय किया, जब तक कि सूर्य उत्तरायण में नहीं आ जाता। वे किस उत्तरायण की बात कर रहे थे? क्या वह सूर्य जो हमारे नेत्रों द्वारा आसमान में देखा जा सकता है, उसकी ओर इशारा कर रहे थे? क्या मात्र वे ही दिशाएं हैं, जिन्हें हम जानते हैं और यदि ऐसा है कि उत्तरायण में शरीर त्यागने पर सद्गति प्राप्त होती है, मोक्ष प्राप्त होता है और दक्षिणायण में मोक्ष की संभावना नहीं, तो क्या संसार में छ: महीनों तक जिस किसी ने भी शरीर त्यागा, चाहे उसके कर्म कैसे भी रहे हों, अतिउत्तम तथा अतिसुन्दर भी, तो क्या वह मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी न होगा?

निश्चय ही वे इस सूर्य और इन दिशाओं की बात नहीं कर रहे थे। उनका संकेत कहीं और था। जो उन्होंने कृष्ण को दे दिया था और कृष्ण से सुन्दर यह बात और कौन समझ सकता था। तत्वदर्शियों ने तो बहुत पहले ही कह दिया था कि 'यथा ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड' अर्थात् जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में उपस्थित है वो सब तुम्हारे शरीर में भी उपस्थित है। एक सूर्य इस शरीर में भी है। तुम्हारी चेतना जो अधिकतर प्राणियों में मूलाधार चक्र पर उपस्थित होती है तथा जैसे-जैसे चेतना उर्ध्व दिशा में बढ़ती जाती है, वह विभिन्न चक्रों पर आकर स्थित हो जाती है। शरीर भी एक चुम्बक की भांति कार्य करता है जिसमें से इलेक्ट्रो-मैग्नेटिक तरंग निकलती हैं। इसके भी दो ध्रुव होते हैं उत्तर व दक्षिण। पैरों को दक्षिण और सिर को उत्तरी ध्रुव माना गया और इसी कारण शव को

उत्तर दक्षिण दिशा में लिटाया जाता है। उत्तरायण में सूर्य का आना अर्थात् चेतना का ज्ञानेन्द्रियों में आकर स्थित हो जाना।

ज्ञानेन्द्रियाँ शीश में होती हैं परन्तु हर यात्रा की भांति आन्तरिक यात्रा भी आसान न होगी, कष्टप्रद हो सकती हैं। भीष्म एक महान कष्ट से तो गुजर ही रहे थे परन्तु उन्होंने इसे एक अवसर में परिवर्तित कर दिया। उनकी प्रतिज्ञा ने उन्हें एक मोह से बाँध रखा था, हस्तिनापुर के मोह से। शर-शैय्या पर आने के पश्चात वे उस मोह से अलग हो चुके थे। अब उनकी वाह्य यात्रा समाप्त हो चुकी थी लेकिन आन्तरिक यात्रा अभी बाकी थी और कोई भी इच्छा मृत्यु का वरदान प्राप्त व्यक्ति, अपनी आन्तरिक यात्रा को पूर्ण किये बिना शरीर छोड़ना न चाहेगा और इन छः महीनों का अपार कष्ट उन्होंने उसी आन्तरिक यात्रा हेतु सहा। वे अपनी सभी आन्तरिक वृत्तियों और मोह से अलग हटकर सत्य की ओर जाना चाहते थे और जब कृष्ण आस-पास उपस्थित हों, जिनके विश्वरूप के दर्शन भीष्म पितामह ने राजदरबार में कर लिये थे तो क्या वे उनका मार्गदर्शन प्राप्त कर, सत्य की ओर गमन न करना चाहते?

भीष्म ने गुणों को तो उनकी सम्पूर्णता में देखा था, कौरवों से लेकर पाण्डवों तक के सभी गुणों को उन्होंने देख दिया था, तम से सत्व तक। साथ ही उन्होंने कृष्ण में निर्गुणता के भी दर्शन कर लिये थे। यह एक अति दुर्लभ अवसर था और कृष्ण की उपस्थिति में यदि यह सिद्ध न हो पाता तो कब हो पाएगा? इसी कारण छः माह तक उन्होंने स्वयं को कष्ट देते हुए यह यात्रा करना ज्यादा उचित समझा और यही है भीष्म की चेतना रूपी सूर्य की उत्तरायण यात्रा।

क्षीरसागर में विष्णु-लक्ष्मी व शेषनाग

क्षीरसागर अर्थात दूध जैसा पवित्र और पोषक। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार आपका मस्तिष्क विद्या और ज्ञान का पोषक है। जिस प्रकार सागर में लहरे उठती हैं, ठीक उसी प्रकार मस्तिष्क में भी विचारों सम्बन्धित लहरें उठती हैं। इसकी संरचना कुछ उसी प्रकार सी होती है जैसे की लहरों की। उँची और नीची। क्षीरसागर में विष्णु शेषनाग पर लेटे हुए हैं, मात्र एक द्रष्टा बनकर। पूर्णतया विचारहीनता की स्थिति। जब चेतना सिर्फ द्रष्टा बनकर रह जाती है, इस प्रकार से वह कर्मफल में लिप्त नहीं होती। विष्णु लेटे हुए हैं निर्लिप्त भाव से। जैसे चेतना निर्लिप्त भाव से सिर्फ घटनाओं को घटित हुए देखती रहती है। उसमें वह स्वयं की भागीदारी होते हुए भी निर्लिप्त भाव से उन कार्यों को सम्पादित करती है। विष्णु यहाँ चेतना रूप में विराजमान हैं परन्तु लक्ष्मी गुणों के रूप में। लक्ष्मी उन गुणों की प्रतिनिधि है जिनके अधीन होकर व्यक्ति कर्म करता रहता है, स्वयं को कर्मबन्धन में बाँधता रहता है। वह गुणों में बरतता हुआ जीवन जीता रहता है। विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति हेतु वह विभिन्न कर्म करता रहता है। आकाँछाओं को पालता हुआ, वह उनको पूर्ण करने को प्रयास करता है। ऐश्वर्य सम्बन्धित अपने विचारों में खोया, हुआ उनकी पूर्ति हेतु प्रयास करता है। उसे दूसरे के ऐश्वर्य, धन, सुख, सम्पति, सम्पदा प्रभावित करते हैं। जिसके कारण वह स्वयं इन ऐश्वर्यों को प्राप्त करना चाहता है। उसके कर्म कामनाओं के अधीन होते हैं और यह कामनाएँ ही उसे विभिन्न प्रकार के प्रयासों को करने हेतु उत्प्रेरित करती हैं। प्रयास कुछ उचित और कुछ अनुचित होते हैं। इस प्रकार गुणों में बरतता हुआ, वह अपनी कामनाओं की पूर्ति करता रहता है। शेषनाग जिस पर विष्णु और लक्ष्मी विराजमान हैं,

वह प्राणी की मूल शक्ति, जो मूलाधार चक्र में स्थित होती है, जिसे कुण्डलिनी शक्ति भी कहते हैं को इंगित करता है। शेषनाग की कुण्डली इसी कुण्डलिनी शक्ति के दुस्तर दुर्ग की ओर इशारा करती है। अर्थात शक्ति यहाँ पर शांति पूर्वक उचित स्थान पाकर स्थित है और इस स्थान को वह छोड़ना नहीं चाहती है। अतः इस ऊर्जा पर नियंत्रण करने हेतु अथवा इसका उपयोग करने हेतु विशेष प्रयासों की आवश्यकता होगी। शेषनाग अपना फन पूरी तरह से फैलाए हुए हैं अर्थात अब शक्ति फन तक पहुँच चुकी है। शरीर में उपस्थित चक्रों से गुजरती हुई यह अपने उच्चतम स्तर तक पहुँच चुकी है। यह शेषनाग भगवान विष्णु की उसी स्थिति को इंगित करता है जिसमें उनके सभी चक्र जागृत अवस्था में है। शक्ति सहस्त्रार से अनन्त में विलिन होती हुई, विचारहीनता की स्थिति उत्पन्न करती है। जिसके कारण श्री विष्णु मात्र द्रष्टा बने हुए आत्मिक आनन्द का अनुभव करते हैं और चेतना की इसी अवस्था को वैकुण्ठ कहा जाता है। जिसमें चेतना विचारों द्वारा उत्पन्न सुख और दुख से स्वयं को अप्रभावित महसूस करती है और इसी कारण वह आनन्द का अनुभव करती है। शेषनाग के फन की छाया का लाभ सिर्फ विष्णु को प्राप्त होता है लक्ष्मी को नहीं क्योंकि श्री विष्णु गुणों से परे हैं, वे परमतत्व का लाभ प्राप्त कर रहे हैं और इसी कारण आनन्द की छाया उन पर व्याप्त है। परन्तु लक्ष्मी अभी भी गुणों में ही बरत रही हैं और इस कारण यह छाया उन्हें उपलब्ध नहीं है क्योंकि गुणों में बरतना, सुख और दुख में बरतना है।

❖❖❖

वैकुण्ठ

बैकुण्ठ वह स्थान है जहाँ पर हर सनातनधर्मी जाना चाहेगा। बैकुण्ठ भगवान विष्णु का धाम, जहाँ भगवान विष्णु स्वयं विराजते हैं। बैकुण्ठ जाने के लिए शरीर त्याग करने की आवश्यकता नहीं है, वह इसी शरीर में रहते हुए देखा जा सकता है। वह कोई विशेष स्थल भी नहीं बल्कि एक विशेष अवस्था है चेतना की। जब चेतना उन्हीं परिस्थितियों का अनुभव करती है जिन परिस्थितियों में भगवान विष्णु स्थित होते हैं। आरतियों में उल्लेख है कि–'बसि बैकुण्ठ परम पद पावें' अर्थात् भक्ति के द्वारा चेतना उस अवस्था का लाभ प्राप्त कर सकती है जिसमें उसे बैकुण्ठ जैसा ही आनन्द प्राप्त होगा।

महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में इस अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है कि ये एक ऐसी समाधि है, जो निर्विचार होती है। मनुष्य अर्थात् वह प्राणी जो मन के अधीन है और यदि इस प्राणी को मन की अधीनता से, विचारों की अधीनता से मुक्त कर दिया जाए तो वह अपने सभी कर्म करता तो रहता है परन्तु विचारों से मुक्त रहता है और विचारों से मुक्त होने के कारण वह कर्मफल के बन्धन में नहीं बँधता। वह अपने सभी कर्मों को मात्र क्रिया के रूप में करता रहता है और विचार उसे परेशान नहीं करते। यह एक ऐसी समाधि है जिसमें होते हुए मनुष्य संसार में लिप्त नहीं होता। वह संसार को मात्र पदार्थिक जगत् के रूप में देखता है और अपनी चेतना में ही वह अपने होने का आनन्द का अनुभव करता है। वह अवस्था जब वह सृष्टि व प्रकृति के नियमों को जानना प्रारंभ करता है। अपने होने के कारण को जान जाता है तथा संसार में अपनी उपादेयता को समझ जाता है। अब वह शरीर नहीं, एक चेतना है। जो शरीर से हट

कर खड़ी होती है और शरीर को एक यंत्र के रूप में देखती है। वह शरीर के भोगों में लिप्त होने में आनन्द प्राप्त नहीं करती परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह अपने सांसारिक कर्तव्यों से विमुख हो जाती है। वह अपने सभी कर्तव्यों को मात्र क्रिया के रूप में करते हुए, इस बात को जानते हुए कि जिस ऊर्जा का उपयोग उसने किया वह सृष्टि से ही प्राप्त हुई, इसमें उसका कुछ भी नहीं है तथा वे गुण जिनका उपयोग उसने किसी कार्य को संपादित करने में किया, वह गुण भी उसने प्रकृति से ही प्राप्त किया है। अत: वह न गुणों में और न कर्मों में रूचि लेती हैं।

सभी कर्मों को मात्र क्रिया के रूप में करती रहती है। संबंधों और घटनाओं को घटित होते हुए, एक द्रष्टा बनकर देखती रहती है। वह शरीर में रहते हुए ही शरीर से मोह भंग का लाभ प्राप्त करती है। इसका तात्पर्य ये नहीं कि शरीर से सम्बन्धित कष्ट उसे नहीं होंगे। वे जरूर होंगे क्योंकि शरीर में रहते हुए इसके भोगों को तो बर्दाश्त करना ही होगा परन्तु अब वह सुखों और दुखों में रूचि नहीं लेगी, लेकिन शरीर में रहते हुए वह माया के अधीन नहीं अपितु सत्य हेतु अपने कार्यों को सम्पादित करती है। वह सत्य के माध्यम के रूप में, कर्मफल में रूचि न लेते हुए, सभी कार्यों को करती रहती है।

महर्षि पतंजलि ने इस समाधि को निर्बीज समाधि कहा अर्थात् अब जीव का वह बीज जो उसे बार-बार जन्म लेने हेतु बाध्य करता है, वह बीज अब न रहा। अब कदाचित उसे पार्थिव शरीर लेने में कोई रूचि न होगी, अब वह ईश्वर की ओर अपने आगे की यात्रा करने हेतु स्वतंत्र है। यात्रा अब शरीर में अटकी हुई नहीं अपितु मार्ग अब खुल गया है।

❖❖❖

पृथ्वी लोक

पृथ्वी लोक अर्थात् मृत्यु लोक या माया लोक। जब जीव की चेतना पूर्ण रूप से माया में ही स्थित होती है, शरीर में स्थित होती है तो वह शरीर को ही अपना अस्तित्व समझने लगती है। वह जो कुछ भी सामने देखती है, उसे ही प्राप्त करने में उसे रूचि होती है क्योंकि उसे इन्द्रियाँ मिली होती हैं जिनके माध्यम से वह पदार्थ में उपस्थित सुखों का भोग कर सकती हैं। वह सुखों की इच्छा में इन पदार्थों की तरफ आकृष्ट होती है परन्तु अन्त में ये पदार्थिक सुख, चेतना को दुख के द्वार पर जाकर छोड़ आते हैं। मृत्यु लोक अर्थात् जब चेतना अपने केन्द्र से दूर बिल्कुल परिधि की ओर चली जाती है, उसे स्वयं के होने का भी भान नहीं होता। वह सिर्फ शरीर रूप में ही बरत कर, पृथ्वी लोक अर्थात् पदार्थिक लोक में प्राप्त हो सकने वाले सुखों में लिप्त हो जाती है। जब चेतना पदार्थों में मोह पाल बैठती है, उन्हें अपना समझकर बरतने लगती हैं। उन पदार्थों के हेतु ही वह सारे कर्मों को अर्पित कर देती है। यह पदार्थिक गुण उसे अपनी ओर तीव्रता से आकर्षित करते हैं और चेतना, मादकता में उनकी ओर बहकती चली जाती है। स्वयं को भूलकर, जो कुछ भी उसे दिखाई देता है उसे ही सत्य मानती है। इस प्रकार वह भ्रमित हो सुख के आकर्षण में फँस, उसकी तरफ गमन करती है और अन्त में दुखों को प्राप्त करती है।

पृथ्वीलोक उस कड़वी दवा के समान है, जो बाहर से मीठी होती है क्योंकि उसपर चीनी की एक परत होती है। प्रारम्भ में तो यह बहुत सत्व देती है परन्तु जैसे जैसे यह मीठी परत निकलती है उसका कड़वापन सामने आने लगता है तथा भीतर जाते-जाते कड़वापन और बढ़ने लगता है परन्तु है ये औषधि ही। औषधि को प्रकृति ने

कड़वा इसीलिए बनाया। सामान्यत: सभी प्रकार की औषधियाँ कड़वी ही होती है। होमियोपैथ की दवाइयाँ भी कड़वी होती हैं बस उन्हें मीठी गोलियों का रूप दे दिया जाता है और जो इस चीनी में लपेटी गई कड़वी गोली का स्वाद पूर्णता से जान गया, वह इस माया का उल्लंघन कर जाता है। मीठापन मुंह में आता रहे, तब तक तो मायालोक बहुत सुन्दर प्रतीत होता है परन्तु कड़वापन आते ही इसकी सत्यता खुलकर सामने आती है। इसीलिए ये औषधि ही है। कार्य ये औषधि के समान ही करता है। असली दवा तो कड़वी ही है, मीठेपन का तो सिर्फ एक आवरण है। जब तक इच्छाएँ फल देती रहती हैं, सुख देती रहती हैं तब तक व्यक्ति इसमें फँसा रहता है परन्तु इच्छाओं के चरम् पर आकर जब वह कड़वेपन का अनुभव करता है, तब उसे इन इच्छाओं की तथा उनसे प्राप्त पदार्थिक सुख की सत्यता का पता चलता है और तब वह इनसे आगे का मार्ग ढूँढता है। मृत्युलोक की यात्रा इच्छाओं की यात्रा है और जब आप इच्छाओं से परे चले जाते हैं, तब आप दूसरे लोकों की तरफ दृष्टि उठाकर देखना प्रारंभ कर देते हैं। संभावनाएँ ढूँढने लगते हैं, मार्ग ढूंढ़ने लगते हैं और प्रयास प्रारंभ हो जाता है तथा प्यास भी जगने लगती है व खालीपन बढ़ने लगता है।

स्वर्ग

स्वर्ग जिसके राजा इन्द्र हैं, जहाँ पर सुखों को भोगा जा सकता है। पृथ्वी लोक पर यदि सुख उपस्थित है तो वह बहुत कम काल के लिए परन्तु स्वर्ग एक ऐसी अवस्था है; जब उन सुखों का काल बढ़ जाता है। यह उन व्यक्तियों को विशेष रूप से प्राप्त होता है जो सकाम कर्म करने में रूचि रखते हैं। जिनके हर कर्म के पीछे कुछ न कुछ कारण व कुछ न कुछ अपेक्षा होती है क्योंकि कर्मफल का बंधन अकाट्य है। यदि आपने अच्छे कर्म किये हैं तो आपको उसका फल मिलेगा ही, उन अच्छे कर्मों का फल आपको भोगना ही होगा, जिस प्रकार से दुखों को भोगना ही पड़ता है, आप चाहें न चाहें। यदि आप अच्छे कर्मों में रूचि लेते हैं तो सुखों को भोगने के लिए आपको स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

स्वर्ग कोई विशेष स्थल नहीं, यह आपकी चेतना की एक अवस्था है जो आपके दैव द्वारा आपको प्राप्त होती है। इसी शरीर में रहते हुए आप लम्बे समय तक सुखों को भोग करते हैं पर स्वर्ग में भी संदेश छुपे होते हैं। आपको ज्ञात होना चाहिए कि देवराज इन्द्र को कुष्ठ रोग है। जो व्यक्ति सुखों में बहुत आसक्त है उसे दुखों को भी भोगना ही पड़ेगा क्योंकि सुख और दुख दोनों एक दूसरे से बहुत भिन्न नहीं हैं, वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि आप सुखों की अपेक्षा करते हैं, उनकी इच्छा करते हैं तो उनके साथ दुख भी मिलेंगें। सुखों की अपेक्षा अर्थात् माया के उस पक्ष में रूचि, जो आकर्षक है परन्तु यदि आप सुखों की इच्छा में माया के पास जाएंगे तो माया के पास दुख भी है। उस क्षेत्र में सुख तो प्राप्त होगा परन्तु आप दुखों से भी अछूते न रहेंगे। देवराज इन्द्र, स्वर्ग के राजा इस दुख से पीड़ित हैं कि कहीं कोई उन्हें पदच्युत न कर दे, कहीं उन्हें स्वर्ग की गद्दी न गँवानी पड़े। इस आशंका से ग्रसित कि कहीं ये सब सुख एक दिन चला न जाए और इन्हीं सुखों की

रक्षा के लिए कई बार युद्ध भी करना पड़ता है परन्तु यह युद्ध धर्म की स्थापना के लिए नहीं। यह महाभारत नहीं। यह सुखों की प्राप्ति के लिए लड़ा जाता है।

सुख और दुख ठीक उसी प्रकार से हैं, जैसे यदि आपने कुर्ता पहना तो आपको पजामा पहनना ही पड़ेगा, आपने पजामा पहना तो कुर्ता पहनना ही पड़ेगा। नहीं पहना तो बहुत ही अटपटा लगेगा, नहीं पहनेंगे तो कोई आपको आकर पहना ही जाएगा परन्तु यदि आपने शरीर को नश्वर मानकर, इसे भस्म से कुछ ज्यादा न मानते हुए, वस्त्रों में ही मोह त्याग दिया तो न ही आपको सुख रूपी कुर्ते की जरूरत पड़ेगी और न ही दुख रूपी पजामे की। स्वर्ग में स्थिति कुछ इस प्रकार से है कि जब आपके सभी शुभ कर्मों का फल समाप्त हो जाएगा तो उस स्थिति में गिरना ही होगा, पुनः इसी मृत्युलोक में। इसी पृथ्वी पर आपको वे सभी ताप भोगने होंगे जो अन्य सभी साधारण मनुष्य भोगते हैं। यह ठीक उसी प्रकार से होगा जिस प्रकार पर्वत की चोटी पर चढ़कर वापस धरती पर गिरना और यह गिरना ही दुख पैदा करेगा इसीलिए तत्व ज्ञानी स्वर्ग में रूचि नहीं लेते, उनका कोई भी कर्म सकाम नहीं होता। वे इस बात को तत्व से जानते हुए कि जो कुछ भी किया गया, उनके गुणों द्वारा किया गया। इसमें उनकी चेतना की कोई लिप्तता नहीं है। वे अपने कर्मों में आसक्त नहीं होते। उन्हें सुखों की भी कोई इच्छा नहीं और उन्हें दुखों से भी कोई भय नहीं।

स्वर्ग आपकी अपेक्षाओं से जुड़ा है। आप इच्छा करते है, आप अकांक्षा करते हैं, आप उनके लिए प्रयास करते हैं तो वह आपको प्राप्त होता है परन्तु यह कोई शाश्वत स्थिति नहीं है। यह माया में ही स्थित होना है, माया को अपने पूर्ण चरम में भोगना है।

नर्क

नर्क भी कोई शरीर से परे अवस्था नहीं। शरीर में रहते हुए ही नर्क भोगना होता है। विभिन्न प्रकार के शारीरिक कष्ट, दुख, मानसिक सन्ताप यह नर्क ही तो है। जब चेतना स्वयं शरीर में स्थित होते हुए, स्वयं को एक शरीर मानते हुए दुख का अनुभव करती है तो उसे हर मार्ग बन्द दिखाई पड़ता है। उसे दुखों का कोई अन्त समझ में नहीं आता और ये भी नहीं समझ में आता कि ये दुख सिर्फ मुझे ही क्यों मिल रहे हैं? जब सब कुछ हाथ से छूटता प्रतीत होता है, यह जगत हाथ से निकलता दिखाई देता है तथा आगे कोई मार्ग दिखाई नहीं देता तो वह कभी क्रोध की अग्नि में जलती रहती है तो कभी सन्ताप या मोह की अग्नि में या कभी रोगों द्वारा कष्ट की अग्नि में। वस्तुत: शरीर और पृथ्वी पर प्राप्त होने वाले कष्ट या दुख ही नर्क है और व्यक्ति इस दुख का अनुभव तब करता है, जब वह माया में स्वयं को उलझा लेता है। वह सुखों की ओर दौड़ते-दौड़ते स्वयं को दुखों के दायरे में पाता है। जब पदार्थों में उसे लोभ और पंचतत्वों से बने इस शरीर से मोह हो जाता है, जिसकी परिणति अन्तत: दुख में ही होती है, तो वह नर्क जैसा ताप महसूस करता है। नर्क को बुरे कर्मों की परिणति माना जाता है। बुरे कर्म अर्थात् वे कर्म जो लोभ और मोह में फंस कर किये जाते हैं। स्वयं की स्वार्थ सिद्धि के लिये किये जाते हैं और इसमें किसी अन्य प्राणी को पहुँचने वाले दुख और कष्ट के बारे में भी विचार नहीं किया जाता। जब प्राणी के कर्म किसी अन्य प्राणी को कष्ट पहुँचाए तो वह अपनी अज्ञानता में घिरा इस तथ्य को समझ नहीं पाता कि जिस जीवात्मा को वह कष्ट पहुँचा रहा है, उस जीवात्मा के भीतर भी ईश्वर का वास है और वह स्वयं भी एक जीव है। दोनों ही जीवों की मूलसंरचना एक ही है यदि किसी अन्य को कष्ट पहुँचाया गया तो वैसा ही कष्ट स्वयं को भी भोगना होगा। इच्छाओं की पूर्ति गलत नहीं, वह आपको मार्ग ही दिखाती है परन्तु इच्छाओं की पूर्ति के लिए किये गए अनुचित कार्य दुखों को ही आमंत्रित करते हैं और वे ही दुख नर्क के समान होते हैं।

सीता द्वारा जनक का पिता रूप में चयन क्यों?

राजा जनक ने मन को जीत लिया था। श्री कृष्ण भी इसकी चर्चा करते हुए कहते हैं कि राजा जनक इत्यादि ने जिस मार्ग का अनुसरण किया हे अर्जुन! तू भी उसी मार्ग का अनुसरण कर। जिस प्रकार जनक ने अपने मन पर विजय प्राप्त की, तू भी मन को ही अपना एकमात्र शत्रु समझ, उसे निश्चय ही मार डाल। माया अर्थात मन। पुरुष बने होते हैं सत्य व माया से। राजा जनक ने अपने भीतर से माया का प्रभाव समाप्त कर दिया था, अब वे शुद्ध सत्य स्वरूप रह गये थे। माता सीता को माता जानकी भी कहा जाता है। स्त्री बनी होती हैं प्रकृति और माया से। श्रीराम द्वारा अर्धांगिनी रूप में चयनित होने का कारण था कि माता सीता शुद्ध प्रकृति का रूप थीं। उनमें माया विद्यमान नहीं। इस कारण उन्होंने जनक का चयन किया पिता के रूप में क्योंकि जनक ने भी माया से स्वयं को दूर कर लिया था। जानकी उत्पन्न हुई पृथ्वी के गर्भ से। वे पृथ्वी के गर्भ से ही उत्पन्न हो सकती थीं क्योंकि पृथ्वी खुद प्रकृति का रूप है। वह जन्म देती है और पालन–पाषण करती है। माता सीता ने भी लव व कुश को जन्म दिया और उनका पालन और पोषण, हर विकट परिस्थिति में किया। राजा जनक की इसी दिव्यता के स्वरूप के कारण माता जानकी ने उन्हें पिता के रूप में चुना।

माया

माया के बारे में कहा गया है कि वह है भी और नहीं भी। तुम उसे अपने चारो ओर घटित होते हुए देख सकते हो लेकिन जो भी तुम देखोगे, वह सत्य नही है। तुम महसूस करोगे कि वह तुम्हारा है, तुम मानना चाहोगे कि वह तुम्हारा है क्योंकि तुमने उसे अपनी गाढ़ी कमाई से खरीदा है। वो सामने ही तो है। तुमने ही तो बनवाया है। इन्जीनियर की, आर्किटेक्ट की, ना जाने किसकी-किसकी सहायता ली। मित्रों से, रिश्तेदारों से, धर्मपत्नी से, माता-पिता से पूछकर, सबके विचारों को जानकर तुमने इस अद्‌भुत इमारत को खड़ा किया है लेकिन एक वक्त आएगा जब तुम्हें ये छोड़ देगी या तुम्हें इसे छोड़ना पड़ेगा। इससे तुम्हारे सम्बन्ध एक झटके में खत्म हो जाएंगे। जो चीज पहले थी वो अब नहीं रहेगी अर्थात् वो शाश्वत नहीं है इसीलिए कहा गया है- माया है भी और नहीं भी।

प्रकृति का वह भाग जो भ्रम से ग्रसित है माया कहलाता है। बाहर की दुनिया माया की अभिव्यक्ति है परंतु वास्तविक माया हमारे भीतर स्थित है जो है मन। चेतना का वह भाग जो पदार्थ से बँध बनाता है, मन कहलाता है। इस प्रकार माया हमारे भीतर स्थित है। मन पदार्थ रूपी शरीर के माध्यम से, पदार्थ रूपी संसार से क्रिया व प्रतिक्रिया करता है। हर बच्चा पैदा प्रकृति के माध्यम से होता है, परंतु वह माया को लेकर आता है। मन के कारण वह उसी प्रकृति को भूल जाता है और इसी कारण वह अकेला और असुरक्षित हो जाता है। मन द्वारा असुरक्षित किया गया व्यक्ति अपनी असुरक्षा को दूर भगाने के लिए दुनिया में विभिन्न प्रयोग करता रहता है जो कर्म कहलाते हैं।

मन के प्रभाव में किए गए सभी कार्य उसे माया में लिप्त रखते हैं। पदार्थ की प्रकृति है कि उसके दो पक्ष होते हैं जैसे सुख व दुःख, सुन्दर तथा कुरूप, रोमांच व भय। मन

सदैव सुन्दर पक्ष को सामने रखता है व मनष्य आकर्षित हो जब उससे सम्बन्धित हो जाता है, तब दूसरा पक्ष प्रकट होता है। माया के इसी द्विपक्षीय स्वभाव को द्वैत कहते हैं। माया सुन्दर पक्ष दिखाकर, व्यक्ति को बिना बताए, उसे एक दोहरी (स्कीम) योजना बेचती है। जिसका तात्पर्य है यदि सुन्दर लोगे तो कुरूप प्राप्त होगा ही। यदि रोमांच में जिज्ञासा प्राप्त करोगे तो भय में परिवर्तित होगा ही।

हजारों सालों से भारतीय दर्शन कहता रहा कि सारा जगत माया है। माया अर्थात् अणुओं व परमाणुओं का एक विशिष्ट विन्यास जो समय आने पर दूसरे रूप में बदल जाया करता है। इसमें संचित ऊर्जा पुनः वातावरण में मुक्त हो जाती है और पदार्थ पुनः ऊर्जा को बन्ध रूप संचयन कर एक नया स्वरूप प्राप्त कर लेता है। इसी को भारतीय दर्शन ने माया कहा।

जीवन में जो भी हम अपने आसपास देखते हैं, समय के साथ सभी चीजें परिवर्तनशील हैं अर्थात् माया का ही भाग है। यह बात हम हजारों सालों से सुनते चले आए हैं परन्तु इसके पश्चात् भी हम अपना सारा जीवन इसी माया के पीछे भागते-भागते व्यर्थ कर देते हैं। हजारों सालों से हम एक और बात सुनते चले आये हैं कि मात्र सत्य का ही अस्तित्व है। माया से परे सत्य स्थित है। उसे खोजोगे तो प्राप्त कर सकते हो परन्तु क्यूँकि वह दृष्टि ऊर्जा और पदार्थ के विन्यास से परे है। उसे आँखों से नहीं देखा जा सकता, हाँ उसके बारे में सुना करते हैं और कभी न कभी, जीवन के किसी काल खण्ड में आपने इसे महसूस भी किया है परन्तु यह अनुभूति होने के पश्चात् भी कोई सत्य को प्राप्त करने का प्रयास नहीं करता। हमारे पास उसके लिए, दिन भर के चौबीस घंटों में से थोड़ा सा भी वक्त नहीं है।

भारत हजारों सालों से यह कहता चला आया कि जो सामने दिखता है उसमें मत उलझो क्योंकि जो दिखता है, वह होता नहीं और जो है तुम उसे देख पाते नहीं। विज्ञान भी तो यही कह रहा है कि पदार्थ में संग्रहित ऊर्जा ही विभिन्न आकार ले लिया करती है। परंतु पदार्थ के मूलभूत कण हमारी दृष्टि से परे हैं, हम उन्हें देख नहीं पाते। पदार्थ इसी कारण

उपस्थित है क्योंकि सूर्य की ऊर्जा है और वे मूलभूत कण हैं जिन्होंने परमाणुओं और फिर परमाणुओं से मिलकर अणुओं का निर्माण किया। इसी कारण सामने दिखने वाली वस्तुओं और संरचनाओं को सत्य मत समझ लेना। वे परिवर्तनशील हैं, वे नश्वर हैं, बदल जाया करती हैं, वे कभी नहीं टिकतीं। ऊर्जा के अवमुक्त होते ही वहाँ फिर राख का ढेर बन जाता है। यदि सत्य की ओर बढ़ना है तो इनसे आगे बढ़ना होगा क्योंकि यह शरीर भी उसी पदार्थ से बना है जिस पदार्थ से सामने स्थित संरचना बनी है। इसी कारण स्वयं के भीतर जाकर ही उस कारण तक पहुँचना संभव है।

❖❖❖

अद्वैतवाद

अद्वैतवाद अर्थात सभी भूतों अथवा प्राणियों में सत्य को ही देखना अथवा सत्य को ही जानना। इस बात की अनुभूति हो जाना कि सभी प्राणी के केन्द्र पर एक ही निर्गुण सत्ता विराजमान है। उसकी परिधि पर आवेशों के रूप में अंहकार है और सबसे बाहर शरीर। शरीर को तो वैसे भी यन्त्र कहा गया। वो तो पंचभूतों से बनता है और पंचभूतों में विलीन हो जाता है। माता के गर्भ में ये पंचभूत प्राणी के शरीर के पार्थिव शरीर की रचना करते हैं और समय के साथ–साथ, प्रकृति इस पार्थिव शरीर का पालन–पोषण करती है। इस पार्थिव शरीर को अलग करके ही देखना होगा। अब बचे गुण अर्थात वह आवेशित क्षेत्र, जिसकी वजह से शरीर निर्मित होता है। गुण अथवा आवेश तो सिर्फ आभासीय व परिवर्तनशील है। समय के साथ–साथ, संतुष्टि पाने के

साथ–साथ, वे परिवर्तित होते जाते हैं। जिससे प्राणी का स्वभाव परिवर्तित होता जाता है, गुणों के विरल होते जाने से व्यक्ति का मूल स्वभाव प्रकट होने लगता है। अन्त में जब प्राणी यह जान जाता है कि उसके व्यक्तित्व के पार भी कुछ उपस्थित है, शरीर के पार भी कुछ स्थित है तो वह गुणों में अपनी रूचि खो देता है। इसी को वैराग्य कहते हैं और अन्त में वह उसी निर्गुण केन्द्र में विलीन हो जाता है। वह जान जाता है कि वह आभास जो 'मैं' के होने का भाव देता है तो वह तो बिल्कुल छद्म निकला, झूठा निकला। वास्तव में ब्रह्म के सिवा और किसी की कोई सत्ता नहीं। ब्रह्म ने ही इस पूरी सृष्टि को निर्मित किया। इस सृष्टि में सभी कणों में सिर्फ ब्रह्म की ही उपस्थिति है। ये बात अलग है कि हम जब अपनी एक स्वतंत्र सत्ता बना लेते हैं अर्थात अपने होने का भ्रम पाल लेते हैं, तब हमें कुछ भी दिखाई नहीं देता। ठीक वैसे जैसे कुहरे की स्थिति में खाली मार्ग भी दिखाई नहीं देता।

अद्वैतवाद अर्थात यह जान जाना कि सिर्फ सत्य की ही उपस्थिति है और कुछ भी नहीं। जब आप इसकी अनुभूति कर लेते हैं तब आप प्राणियों द्वारा किये जाने वाले मान अपमान से परे हो जाते हैं। आपको इस तथ्य का ज्ञान हो जाता है कि जो सिर्फ माया के वशीभूत होकर ही अपना–अपना जीवन व्यापन करता है। इसके द्वारा किए गए मान और अपमान में, दोनों में ही कुछ भी सार्थक नहीं होगा क्योंकि ये स्वयं में ही भ्रमित है। इस प्रकार आप सम्मान में भी और अपमान में भी रुचि खो देते हैं। उस प्राणी को क्षमा कर देते हैं क्योंकि आप ये बात जान जाते हैं कि उसके केन्द्र पर भी वही परमसत्ता बैठी है जो आपके केन्द्र पर बैठी है और एक न एक दिन, किसी किसी न किसी जन्म में, वह इस तथ्य को जान ही जाएगा। लेकिन जब तक वह इस बात को नहीं जानता, तब तक वह भ्रम में भटक रहा है और जो अज्ञान में भटक रहा

है उस पर तो सिर्फ दया ही की जा सकती है। वास्तव में सभी गुण परिवर्तनशील है। गुण ही इस शरीर के होने का कारण हैं। वे अपनी यात्रा तम से प्रारम्भ कर रज से होते हुए सत्व पर खत्म करते हैं और सत्व पर आकर अब आगे जाने के लिए बस एक ही मार्ग बचता है, गुणों से परे चले जाना। इस प्रकार व्यक्तिगत सत्ता परिवर्तित होते हुए सत्य में ही विलिन हो जाती है। इसी कारण सिर्फ ब्रह्म की ही उपस्थिति सत्य है। अन्य सभी चीजें अन्त में ब्रह्म में ही समाहित हो जाती हैं। अद्वैतवाद इसी सत्य को स्पष्ट करता है कि और कुछ वास्तव में है नहीं, यदि है तो सिर्फ सत्य। ये हमारी असमर्थता है कि हम उसे देख नहीं पाते, वरना है तो वो सामने ही। ठीक वैसे ही जैसे मार्ग सामने ही होता है बस अंधेरे में हम उसे देख नहीं पाते। देखने में हमारी असमर्थता का मतलब ये नहीं कि मार्ग ही नहीं। मार्ग तो है ही क्योंकि वो कहीं नहीं जाता। बस हम उस तक पहुँच नहीं पाते। उसे देखने के लिए जो आँखें चाहिए, वे भी हमारे पास सदैव से हैं। बस हमारे व्यक्तित्व के बोझ से वे कहीं नीचे छुप गई हैं।

❖❖❖

मुनि

मुनि अर्थात वह व्यक्ति जो मननशील है। मनन अर्थात मन न। वह अनुभूति जो मन से पूर्णतया मुक्त है। जो स्वाध्याय में रुचि रखता है, जो पुस्तकों में रुचि रखता है, जो पूर्व में कही गयी बातों और वचनों में रुचि रखता है। पूर्व में सत्यान्वेशियों द्वारा बताई गयी अनुभूतियों में रुचि रखता है। उनके प्रयासों में, उनकी यात्रा, उनके मार्ग और उनके गन्तव्य में भी रुचि रखता है। वह जो सत्व

और तत्व का मनन करता है। वह मनन के द्वारा अपने चित्त में दबी आन्तरिक वृत्तियों, ग्रन्थियों, इच्छाओं और आकांछाओं को खोज लाता है। वह उनसे उबरने का मार्ग भी खोज लाता है। मनन के द्वारा वह कई रहस्यों के स्पष्टीकरण भी ढूँढ लाता है। बुद्ध को शाक्य मुनि भी कहा जाता है, शाक्य उनक कुल था और मनन उनका स्वभाव। शाक्य मुनि अर्थात् वह शाक्य जो मननशील है। बुद्ध मननशील स्वभाव के कारण वह सत्य ढूँढने को उद्यत हुए। बुद्ध को भगवान भी कहा जाता है, भगवान अर्थात् वह जो जानता है कि सभी कर्म प्रकृति द्वारा ही किए जाते हैं तथा वही सभी गुणों की जननी है। उसके अलावा पृथ्वी पर न ही कोई दूसरी पहचान है और न ही कोई व्यक्तित्व। भगवान वह है, जिसे कोई भ्रम नहीं, जो संशय से परे है। यात्रा प्रारंभ हुई मनन से, मुनि होने से और उसका चरम था स्वयं परमतत्व में विलिन हो जाना। मनन ने एक मार्ग खोला, सत्य प्राप्ति की इच्छाओं को ढूँढकर, उन्हें बाहर लाकर उन्हें शक्ति दी। मननशील होना एक अवस्था है जो अन्ततोगत्वा मन से परे जाने को मार्ग प्रशस्त करती है और यही तो कृष्ण कहते हैं कि मन को तू अपना वास्तविक शत्रु जान। इसे निश्चय ही मार डाल। राजा जनक और उनके जैसे कई अन्य तत्वदर्शी, इसी मार्ग से सत्य तक पहुँचे। राजा जनक ने भी कहा मैंने वास्तविक शत्रु को अब जान लिया है और निश्चय ही इस पर मैं सीधा प्रहार करूंगा। मननशील, मन का उपयोग कर, मन के ही पार जाने का मार्ग खोलता है और यही कार्य विभिन्न मुनि आदिकाल से करते आ रहे हैं।

मंत्र

मंत्र उस मथनी के समान है, जिसका उपयोग स्वयं को मथने के लिए किया जा सके। अपनी गहराइयों से ज्ञान को बाहर निकालने के लिए जिनका उपयोग हो सके। जिस प्रकार एक मथनी दही को पूरा मथ के मक्खन व पानी को अलग कर देती है, उसी प्रकार मंत्र उस मथनी के समान है जो आपके मन को मथ कर उसे शांत करते हैं। मंत्रों का जप अथवा उनका श्रवण मन को एक उद्देश्य दे देता है। मन अपने सभी विचारों को त्याग उस मंत्र में ही अपनी समस्त ऊर्जा लगाने लगता है। मंत्र भावनाओं का नाश कर भाव की तरफ ले जाते हैं। मंत्रों का जप सत्य के प्रति आवलम्बन को दर्शाता है। यह ठीक उसी प्रकार से है जिस प्रकार अपशब्दों को लगातार सुनते रहने से वे आपके अन्तस में गहरे प्रविष्ट हो जाते हैं। आप उनके अभ्यस्त होने लगते हैं और गाहे–बगाहे वे आपकी जुबान पर भी आ जाया करते हैं। अपशब्दो का प्रभाव या दुष्प्रभाव किसी से छुपा नहीं। ठीक उसी प्रकार मंत्रों के लगातार श्रवण से मन शांत होने लगता है। मन के शांत होने पर भ्रम गिरने लगता है। उनका जाप सृष्टि की सात्विक ऊर्जाओं से, उन चेतनाओं से आपको जोड़ने का कार्य करता है। मंत्र विचारों को दूर कर आपको शक्ति भी प्रदान करते हैं तथा आपको ध्यान में ले जाने में भी सहायक हैं।

मंत्र आपके अंतस्थ को मथ कर उसमें घुली अशुद्धियों को अलग कर देते हैं, जिससे अन्तस्थ साफ होने लगता है। इस प्रकार से ध्यान और भक्ति में उतरना और भी आसान हो जाता है। ये आपकी चेतना को केन्द्र की ओर ले जाने वाले साधन के रूप में कार्य कर सकते हैं, जिससे भाव और उभर कर बाहर आ जाता है। यह आपको प्रकृति की ओर ले जाते हैं जिसका मुख्य भाव ही शान्ति है। सोते समय में मंत्रों को सुनना, गहरी नींद में ले जाने में सहायक है। इन्हीं

विशेषताओं के कारण गुरु अपने शिष्यों को मंत्र दान देते हैं जो साधना को एक स्तम्भ, एक आधार देता है और मन को नियंत्रित करने वाली रस्सी के रूप में कार्य करता है।

❖❖❖

दान तथा अपरिग्रह

दान और अपरिग्रह में एक भेद है कि दान संग्रह कर प्रदान कर देता है और अपरिग्रह संग्रह ही नहीं करता है। दान अर्थात इच्छाओं की पूर्ति कर प्राप्त कर, प्राप्त किये हुए द्रव्य में मोह का त्याग अर्थात रूचि प्राप्त करने में थी। प्राप्त किये हुए में नहीं। उस विचार में थी जो बार–बार परेशान करता था कि प्राप्त कर लिया जाना चाहिए और प्राप्त कर लिये जाने के पश्चात उस विचार का त्याग कर दिया गया। साथ ही त्याग किया गया, प्राप्त किये हुए द्रव्य का। अब वह विचार परेशान नहीं करेगा कि प्राप्त करो क्योंकि पहले ही प्राप्त कर लिया गया है। वॉरन बफेट आज के सबसे बड़े दानियों में जाने जाते हैं जिन्होंने अपनी 99 प्रतिशत सम्पदा दान करने की घोषणा कर दी। जीवन भर वह प्राप्त करने के विचारों से ही घिरे रहे। अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा प्राप्त करने में ही लगा दी। परन्तु वास्तव में वह उस द्रव्य के लिये उतने परेशान न थे जितने की उस विचार से, जो उन्हे लगातार यह कहता रहता था कि प्राप्त करो! बहुत कुछ है प्राप्त करने को और यह इच्छा जब पूर्ण हो गयी, तब प्राप्त करने की इच्छा भी समाप्त हो गयी। द्रव्य में तो रूचि पहले भी न थी क्यूँकि कुछ प्राप्त कर लिया जाना था तो वह द्रव्य रूप में, सम्पति तथा सम्पदा रूप में आ गया। परन्तु उस विचार के

संतृप्त होते ही प्राप्त की गयी सम्पदा में भी कोई रुचि न बची और रुचि इतनी तेजी से समाप्त हुई कि जीवन भर की सम्पदा को एक क्षण में दान देने का फैसला कर लिया। दान अर्थात स्वयं का मोह से बाहर निकलने का मार्ग बनाना। दान लेने वाला द्रव्य में रूचि रखता है क्योंकि द्रव्य उसकी आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करता है परन्तु दान देने वाला तो जड़ पर कार्य कर रहा है। उसने विचारों के वशीभूत होकर प्राप्त किया तथा प्राप्त सम्पदा को दान देकर स्वयं को मुक्त करने का प्रयास किया, प्राप्त करने के विचार से। परन्तु दान प्राप्त करने वाला भी मुक्त न होगा। उसे तो अभी सिर्फ द्रव्य प्राप्त हुआ है, द्रव्य प्राप्ति के बाद उसके अन्दर विचार उठेंगे कि अभी तो इसे मात्र दान रूप में प्राप्त किया। क्यूँ न इसे अर्जित किया जाए और दान में मिला भी तो कितना कम। यदि मैं स्वयं इसे पाने का प्रयास करूँ तो इससे कहीं ज्यादा कर सकता हूँ। द्रव्य प्राप्त करना उसे विचारों की ओर ले जाने का कार्य करेगा। वहीं द्रव्य दान करने वाला विचारों से दूर जा रहा है तो वास्तव में सुख किसे प्राप्त हुआ? दान देने वाले को। दान लेने वाला तो विचारों के चक्र में फँसने जा रहा है। दान प्राप्त करने वाला ऐश्वर्य की तरफ जा रहा है और दान देने वाला ऐश्वर्य से दूर। दानी सिद्ध–ऐश्वर्य की ओर जा रहा है। यही है दान की महिमा। यह प्राप्त करने से ज्यादा, प्रदान करने वाले के लिए लाभदायक है और अपरिग्रही तो इस विचार से ही मुक्त हो चुका है कि उसे प्राप्त करना चाहिए। दान देने वाला तो सिर्फ द्रव्य ही प्रदान करता है परन्तु प्राप्त करने वाला द्रव्य के साथ उस विचार को भी प्राप्त करता है जो बाद में उसे अर्जित करने के लिए उकसाएँगे।

ऋषि

वे साधक जिन्होंने साधना पथ का अनुसरण किया, तप किया और इसके माध्यम से योग की प्राप्ति की आत्मज्ञान प्राप्त किया और उसके पश्चात उन्होंने वेदों तथा अन्य शास्त्रों की ऋचाओं का लेखन किया। वे ही ऋषि कहलाए यह वे सत्यान्वेशी थे, जिन्होंने अपना जीवन सत्य की खोज में और ईश्वर प्राप्ति के मार्गों का अनुसरण करने में व्यतीत किया। वे माया में रुचि न लेकर सत्य की ओर आकृष्ट थे। जिन्हें पता था कि सच्चाई सिर्फ वह नहीं, जो नग्न आँखों से दिखाई देती है। सत्य कहीं ज्यादा विस्तृत और इन नेत्रों से परे है। उस सत्य को खोजने हेतु उन्होंने साधना की। आप उन्हें प्रारंभिक वैज्ञानिक कह सकते है क्योंकि उन्होंने जीवन जीने के सामाजिक नियमों का उल्लंघन किया। वे सिर्फ वही नहीं करना चाहते थे। जो समाज ने उन्हें बताया। उन्होंने अपनी आत्मा की आवाज पर ज्यादा ध्यान दिया। अपने भीतर खोज की व एक अलग पथ की नींव डाली और इसी खोज के क्रम में उन्हें सत्य की प्राप्ति हुई। परन्तु सत्य प्राप्ति के पश्चात वे रूके नहीं, अपनी अनुभूतियों व अपने मार्गों को उन्होंने श्लोक की शक्ल देकर लिपिबद्ध किया ताकि भविष्य में आगे आने वाले सत्यान्वेशियों की सहायता की जा सके। ये वे थे जिन्होंने संस्कृति को विज्ञान के साथ जोड़ा। बाह्य जगत को आंतरिक जगत से जोड़ा। ऋषियों ने भारत की प्रतिष्ठा को विश्वगुरू के रूप में स्थापित किया, भारत को दुनिया का तीर्थ बनाया। भारत को वह महत्ता प्रदान की, जिस पर आज सभी गर्व करते हैं। आज के सत्यान्वेशी अपनी सत्य की तरफ यात्रा में जब भी भ्रमित होते हैं तो वे उन ऋचाओं में छुपे संकेतों की तरफ दृष्टि डालकर व उनसे मार्गदर्शन प्राप्त कर अपनी यात्रा को आगे बढ़ाते हैं।

अलग अलग विषयों से सम्बन्धित अपने योगदान के कारण ऋषि सात प्रकार के कहलाए। महर्षि जैसे व्यास, परमर्षि जैसे भील, देवर्षि जैसे नारद, ब्रह्मर्षि वशिष्ठ, श्रुतर्षि सुश्रुत, राजर्षि ऋतुपर्ण तथा काण्डर्षि जैमिनी।

ऋषि वे हैं जिन्होंने प्रज्ञा प्राप्त की। प्रज्ञा अर्थात् सत्य का ज्ञान। ऋषि ही मानव जाति को विकास से उद्विकास की ओर ले गए। ऋषियों ने ही बताया कि मनुष्य अपनी ऊर्जाओं को अपने भीतर की ओर मोड़कर, उन्हें शक्ति के रूप में परिवर्तित कर सकता है और उस शक्ति के माध्यम से पुनः ब्रह्माण्ड से जुड़ सकता है। ऋषि वे आंतरिक वैज्ञानिक हैं, जिन्होंने अध्यात्म को खोजा और साथ ही उससे सम्बन्धित विज्ञान को भी। ताकि मनुष्य इस विज्ञान का अनुसरण कर, दिव्यता को प्राप्त कर सके।

ऋषि वे हैं जिन्होंने बताया कि प्रकृति सिर्फ बाहर ही नहीं भीतर भी है। भीतरी प्रकृति का उपयोग कर, किस प्रकार बाहरी प्रकृति से जुड़ा जा सकता है। ऋषि वे हैं जिन्होंने बंधन के कारणों की खोज की तथा मुक्ति के मार्गों की भी। ऋतम्भरा प्रज्ञा की सिद्धि द्वारा प्राप्त अवस्था ही ऋषित्व कहलाती है। ऋषियों ने ही सर्वप्रथम स्वयं को भ्रम से मुक्त कर, आंतरिक जगत का द्वार खोलने में सफलता प्राप्त की। ऋषियों ने ही अपनी अनुभूतियों को ऋचाओं के रूप में संकलित कर, वेदों और उपनिषदों की रचना की और मनुष्य को ब्रह्म से जुड़ने के सूत्र प्रदान किए।

वे साधक जिन्होंने साधना पथ का अनुसरण किया, तप किया और इसके माध्यम से योग की प्राप्ति की, आत्मज्ञान प्राप्त किया और उसके पश्चात उन्होंने वेदों तथा अन्य शास्त्रों की ऋचाओं का लेखन किया-वे ही ऋषि कहलाए। यह वे सत्यान्वेशी थे जिन्होंने अपना जीवन सत्य की खोज में और ईश्वर प्राप्ति के मार्गों काअनुसरण करने में व्यतीत किया। वे माया में रूचि न लेकर सत्य की ओर आकृष्ट थे। जिन्हें पता था कि सच्चाई सिर्फ वह नहीं जो नग्न आंखों से दिखाई देती है, सत्य कहीं ज्यादा विस्तृत है और इन नेत्रों से परे है, उस सत्य को खोजने में उन्होंने साधना की।

ऋद्धि-सिद्धि

ऋद्धि व सिद्धि जीवन के दो स्तम्भों को अंकित करती हैं। ऋद्धि अर्थात समृद्धि, धन, सम्पन्नता, सुख, वैभव इन सभी को मिलाकर ऐश्वर्य भी कहा जाता है। सांसारिक यात्रा इन्हीं की यात्रा है, जिसमें व्यक्ति धन, सुख, सम्मान, सभी कुछ पाना चाहता है। ऋद्धि यह इंगित भी करती है कि पदार्थिक जगत में इन सभी वस्तुओं की प्राप्ति की जानी चाहिए। यह आपको संतुष्टि प्रदान कर मन को स्थिरता देंगी। कामनाएँ पूरी होने से मन की तरंगे शिथिल होने लगेंगी। सम्मान प्राप्ति से सम्मान की भूख भी समाप्त हो जायेगी। फिर आयेंगी सिद्धियाँ, जो आपको पदार्थिक जगत से चेतना जगत की ओर स्थानांतरित करने में सहायक होगी। अब पदार्थिक जगत को भी पीछे छोड़े जाना होगा।

मोह करने से कोई लाभ नहीं क्योंकि हर वो वस्तु जिसमें मोह किया जाये वह नश्वर है। उसका स्वरूप परिवर्तित होगा ही, उसे रोक पाना सम्भव नहीं, मोह अन्ततः दुख ही देगा। दुख की गुणवता व मात्रा, मोह की सान्द्रता के उपर निर्भर करेगी। जितना ज्यादा मोह उतना ही ज्यादा दुख। सिद्धियाँ अर्थात अपनी केन्द्र की ओर यात्रा के विभिन्न पड़ाव। सूक्ष्म से स्थूल जगत की ओर, इसी अज्ञात जगत की यात्रा को सिद्ध ऐश्वर्य कहा गया। यह ऐश्वर्य से आगे की यात्रा है। जब व्यक्ति अपनी परिधि से केन्द्र की ओर अपनी यात्रा प्रारम्भ करता है। जब वह अपने विभिन्न पड़ावों को पार करता हुआ, केन्द्र के निकट पहुँचकर अपना वास्तविक स्वरूप अर्थात् आत्म साक्षात्कार प्राप्त करता है।

मूर्ति पूजा का रहस्य

प्राचीन भारतीय तत्वदर्शियों ने मूर्तिपूजन की प्रथा प्रारंभ की। इसके पीछे निश्चित तौर पर कई कारण हैं। सर्वप्रथम यह एकाग्रचित होने में सहायक है। व्यक्ति मूर्ति की तरफ देखकर अपनी सारी एकाग्रता उसपर स्थापित कर, मन से पूजन अर्चन कर सकता है। इससे उसे भक्ति में उतरने में सहायता प्राप्त होती है क्योंकि उसने अपने जीवन में जीवन सिर्फ शरीरों में ही देखा है। अतः वह मूर्ति से स्वयं को आसानी से जोड़ सकते हैं। इस प्रकार से अपना चित्त एकाग्र करना और पूजन अर्चन करना आसान हो जाता है। भक्तिभाव में तो यह और भी महत्वपूर्ण है क्योंकि कुछ भक्त ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करते हैं, यह सम्बन्ध पुत्र का, गुरु का या मित्र का किसी भी प्रकार का हो सकता है। वह मूर्ति को देखकर अपने सम्बन्धों में भाव ज्यादा आसानी से डाल सकते हैं। इस प्रकार प्रारंभ में तो मूर्ति महत्वपूर्ण होती है परन्तु भाव उत्पन्न हो जाने के बाद मूर्ति गौण हो जाती है और भाव प्रमुख।

मूर्तियाँ सत्य की ओर संकेत करती हैं। शिवलिंग तो पूर्णरूपेण सत्य की प्रतिकृति है। वह कई प्रकार से आपको यह समझाने का प्रयास करता है कि जीवन का प्रमुख लक्ष्य क्या है? किस प्रकार आपको जीवन में इन लक्ष्यों को पहचानना और इन्हें प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार से वह उपासक की सहायता, सत्य तक पहुँचने में करती है। जब यह पूरी पृथ्वी ही मूर्तिलोक है, पार्थिव शरीर की प्रधानता है तो क्यूँ न शरीर रूप में ही किसी मूर्ति की स्थापना कर सत्य को खोजने का प्रयास किया जाए। यह एक सेतु की भांति कार्य करेगा, साकार से निराकार के मध्य में क्योंकि जो भी मनुष्य पृथ्वीलोक में उपस्थित है, उन्होंने सिर्फ साकार सत्य को ही जाना परन्तु इसी साकार सत्य

को माध्यम बनाकर वह निराकार जगत में पहुँच जाते हैं। मूर्तियाँ सत्य का ही रूप है वह जिस पदार्थ से बनी हैं या यह पूरा संसार जिस पदार्थ से बना है वह ब्रह्म है। अन्त में सृष्टि के अन्त में वह सब उसी परमबह्म में समा जाता है। इसी कारण भारतीय दर्शन यह कहता है कि कण–कण में ईश्वर है और उसी कण से आकार लेकर मूर्ति पूर्ण होती है।

मूर्तियाँ भावनाओं से परे हैं उनमें विचार नहीं आते, उनमें विचारों का भी परिवर्तन नहीं होता तथा उनमें भावनाओं का प्रवाह नहीं है। भावनाओं का प्रवाह सिर्फ मनुष्य शरीर में है जो विचारों से ग्रसित है। परन्तु मनुष्य शरीर के पश्चात अन्य लोकों में भावनाओं की कोई आवश्यकता नहीं। तत्वदर्शी आपको सदैव यह बतलाएँगे कि सत्य प्राप्ति के बाद, उनमें भावनाओं का ज्वार उठना बन्द हो गया। अब कोई भावना की उपस्थिति नहीं क्योंकि अब उनमें विचारों की भी उपस्थिति नहीं, इसी अवस्था को पतंजलि ने निर्विचार समाधि कहा है। मूर्तियाँ भाव में स्थिर है यदि आप किसी मूर्ति को देखेंगे तो सिर्फ एक भाव उसमें उपस्थित होगा, वह वात्सल्य होगा या तो रौद्र या तो सखा या तो प्रेम और यही तो होता है चेतना स्तर पर और विभिन्न लोकों में। जब चेतना शरीर से मुक्त होकर अर्थात भावनाओं से मुक्त होकर भाव जगत में प्रवेश कर जाती है। इसी कारण भक्तिभाव में रहने वाले कई भक्तों को भाव समाधि उपलब्ध होती है। इस प्रकार मूर्तियाँ यह इंगित करती हैं कि भावनाओं को त्यागो क्योंकि एक न एक दिन या तो तुम उन्हें त्यागोगे या भावना ही तुम्हें त्याग देगी। तो पहल तुम्हीं करो, प्रयास तुम्हीं करो।

माँ दुर्गा का वाहन शेर क्यों?

दुर्गा जो पार्वती का रूप हैं तथा आसुरी शक्तियों को परास्त करने हेतु पार्वती, दुर्गा का रूप धारण करती हैं। उनका वाहन शेर है। 'शेर अर्थात प्रकृति का रक्षक'। शेरों के द्वारा ही वनों का अस्तित्व बचा रहता है।

शेर भोजन श्रृंखला में सबसे ऊपर है। जंगल की पारिस्थिकी व वृक्ष प्राणी के मध्य संतुलन स्थापित करने में शेरों की महत्वपूर्ण भूमिका है। शेरों की अनुपस्थिति में बड़े जानवरों की संख्या बढ़ती है, जिससे भोजन श्रृंखला पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। साथ ही मनुष्य बस्तियों व वन के मध्य परस्पर अतिक्रमण बढ़ जाता है। सभी प्राणियों की तरह शेर भी प्रकृति की अभिव्यक्ति है। दुर्गा का असुरों पर शेरों के साथ आक्रमण निरंकुशता के मन में भय पैदा कर देने के लिए पर्याप्त है। यह प्रकृति का संकेत है कि यदि तुम अपने मन पर नियंत्रण नहीं रख सकते तो यह कार्य प्रकृति को करना होगा और वह आततायी के लिए विध्वंसकारी होगा।

उनके होने से वन के कटने की दर में भी कमी आती है। शिकारी तथा तस्कर वन में सुगमता पूर्वक प्रवेश नहीं करते और इस प्रकार प्रकृति स्वतंत्रता व निर्भीकता पूर्वक अपने कार्य में रत रह सकती हैं। शेर प्रकृति का रक्षक हैं। इसी कारण शेरों की घटती संख्या पर्यावरण के लिए चिन्ता का विषय बन जाती है। क्यूँकि शेर घटते हैं तो वनों के क्षेत्रफल में भी कमी आयेगी। इस प्रकार पर्यावरण का संतुलन बिगड़ने का खतरा उत्पन्न हो जायेगा। शेर पर्यावरण के रक्षक हैं। शेर दुर्गा के रक्षक हैं और इस प्रकार वे प्रकृति के भी रक्षक हैं।

यथा ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड

प्राचीन भारतीय तत्यदर्शी द्वारा दिया गया ये सूत्र, सृष्टि के रहस्यों को खोलने में आपकी सहायता करेगा। ये घोषणा करता है कि जो विन्यास छोटे पिण्ड का है वही विन्यास इस ब्रह्माण्ड का भी है। यदि आपको ब्रह्माण्ड के बारे में जानना हो तो एक छोटे से पिण्ड की संरचना व उसके आणविक व परमाणविक विन्यास का अध्ययन कीजिएगा। उससे इस ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में कई आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त हो जायेंगी। जिस प्रकार एक परमाणु के केन्द्रक के चारों ओर नियत कक्षा में इलेक्ट्रान चक्कर लगाते रहते हैं। उसी प्रकार आकाशगंगा में केन्द्र पर स्थित सूर्य के चारों ओर, सभी ग्रह अपनी नियत कक्षाओं में परिक्रमा करते रहते हैं। इसी प्रकार परमाणु का विन्यास ठीक वही है जो इस आकाशगंगा का है। इस प्रकार आपके पास सत्य को ढूँढने के दो मार्ग हैं– या तो केन्द्र से परिधि की ओर जाइये या परिधि से केन्द्र की ओर। खगोलशास्त्री अंतरिक्ष का अध्ययन कर उसी सत्य की खोज में जुटे हैं और तत्वदर्शी अपनी खोज प्रारम्भ करते हैं अपने केन्द्र से और उससे होते हुए, अन्तरिक्ष और उसके रहस्यों में दूर तक चले जाते हैं। परिधि पर आपको हर जगह माया प्राप्त होगी परन्तु सत्य केवल केन्द्र पर उपस्थित है। माया सत्य का ही विस्तार है परन्तु काफी विरल जो अन्ततः सत्य में विलीन हो जाता है। परन्तु सत्य सघन रूप में केन्द्र पर स्थित है। इसी कारण आप समूह में सक्रिय होते हैं तो विचार तेजी से गति करते हैं परन्तु जैसे–जैसे आप ध्यान में केन्द्र की तरफ जाते हैं तो विचारो की गति धीमी पड़ने लगती है और धीरे–धीरे विचार शान्त हो जाते हैं।

सकाम पूजा

सकाम अर्थात कामनाओं हेतु। वह प्रार्थना जो कामनाओं की सिद्धि हेतु की जाये। वह प्रार्थना जिससे इच्छाएँ जुड़ी हों। जो सांसारिक लक्ष्यों की पूर्ति हेतु की जाये। जो पदार्थिक सिद्धियों हेतु हो। कामना चाहे अच्छी हो या बुरी, फल प्राप्ति हेतु की गई हर उपासना, सकाम–उपासना है। चाहे धन–सम्पदा, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, सन्तति, सम्मान, आयु, बल, तेज, सुख जिस किसी भी कारण से की जाये वह सकाम होती है। ईश्वर का काम ही है प्रदान करना। उसने जीवन दिया, धरती दी, वायु, जल, भोजन, बुद्धि, शरीर सभी कुछ दिया। तो क्या इच्छाओं की पूर्ति न देगा? अवश्य देगा! यदि कर्म किया है तो उसका फल तो प्राप्त होगा ही। आप ईश्वर से माँगे न माँगे वो तो आप को मिलेगा ही। परन्तु कभी–कभी इच्छाओं के वश में आकर मनुष्य अपनी इच्छाएँ ईश्वर के सामने रख देता है। वह उन्हें जल्दी पूरा होना देखना चाहता है। कभी भविष्य से सशंकित होकर, तो कभी वह अतीत से दुखी होकर प्रार्थना किया करता है। अपने किये गये कर्म की फल प्राप्ति हेतु उसे प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं। वह उसे वैसे भी प्राप्त होंगे ही, माँगिये या न माँगिये। ईश्वर कभी–कभी करुणा के अधीन होकर वह भी प्रदान कर देंगे। जिसके लिए आपने प्रयास ही नहीं किया। परन्तु प्राप्त हो चुकी वस्तु के लिए भविष्य में कर्म करना होगा।

पूजा-पाठ सत्य के प्राप्ति के मार्ग तब तक नहीं जब तक उन्हें हम कामनाओं की पूर्ति हेतु किया करते हैं। उनसे कामनाएँ ही पूरी हो सकती हैं। जब सत्य को चाहा ही नहीं तो उसे प्राप्त कैसे किया जा सकता है। भीतर और बाहर सब जगह होते हुए भी उससे चूक जाना ही है माया की सफलता। भारतीय दर्शन द्वारा यह तथ्य स्थापित कर दिए जाने के पश्चात् भी लोग जीवन में सत्य ढूँढने का प्रयास नहीं करते। अब इससे ज्यादा आश्चर्यजनक बात और क्या हो सकती है!

निष्काम पूजा

जब पूजा कामना रहित होकर की जाये। कोई इच्छा, कोई स्वार्थ, कोई अभिप्राय न जुड़ा हो। जब कुछ पाना न हो, पदार्थो की एक नियत स्तर तक प्राप्ति हो गई हो या फिर प्राप्ति हो रही हो। यह कई गुना बढ़ जाये, ऐसी कोई इच्छा न बची हो। जो कुछ भी आ रहा है, उसमें संतोष हो। तब पूजा, पूजा न होकर साधना हो जाती है क्योंकि वाह्य जगत में तो आपको कामनाओं की आवश्यकता होगी लेकिन आन्तरिक जगत में जो सबसे पहली चीज छोड़नी होगी वो है कामना। यहाँ कामनाओं की आवश्यकता न होगी। यहाँ सामर्थ्य की भी आवश्यकता न होगी। क्यूँकि आन्तरिक जगत में आवश्यकता होगी तो सहजता की, द्रष्टा बनने की। जो कुछ भी घटना घट रही हो, उनमें कम से कम हस्तक्षेप की परन्तु अपने कर्तव्य पहले की ही भाँति चलते रहें क्योंकि तब कर्म, कर्म न रहकर क्रिया बन जाती है। क्यूँकि कर्मो में भी अब कोई लोभ न बचा, न कर्मफल की सिद्धि में। जब आप परमात्मा से इच्छा व्यक्त करते है तो वह आपको वे चीजें प्रदान करते हैं जिसे आप चाहते हैं। परन्तु जब आप इच्छा नहीं करते तब आपको वह प्राप्त होता है जो आपके लिए सबसे उचित हो। क्यूँकि तब इच्छा होती है, उस परमतत्व की जो करूणा व प्रेम से भरा हुआ है। वह जब भी आपको देगा, सर्वश्रेष्ठ ही देगा। जो पदार्थ सामने थे अथवा प्राप्य थे, अब उनमें कोई रुचि नहीं रहेगी। अब माँगना भी हो तो क्या? अब सब कुछ छोड़ा उस पर, जो सर्वज्ञ है। अब व्यक्ति की कोई इच्छा नहीं, अब इच्छा उस परमतत्व की होगी। जिस प्रकार वह लाखों जन्मों से व्यक्ति को कर्म करता हुआ देखता आया है और उसमें आनन्द लेता रहा। अब व्यक्ति भी द्रष्टा बनने का प्रयास करेगा। अब घटनाएँ घटित होंगी, मनुष्य की प्राप्त हुई ऊर्जा उन घटनाओं को स्वतः होने देने व आकार लेने में सहायता करेगी। परन्तु सिद्धि या असिद्धि सफलता या निष्फलता में अब कोई लोभ न बचेगा। इस प्रकार की गई पूजा भक्ति कहलाती है। भक्ति अर्थात सत्य को पाने, सत्य को जानने, उसे समझने की प्यास।

प्रणाम

प्रणाम दो शब्दों से मिलकर बना है प्रणव + आमि अर्थात मैं प्रणव हूँ। प्रणव अर्थात ओमकार। मैं स्वयं ओमकार हूँ। भारतीय सभ्यता में एक दूसरे से मिलने पर प्रणाम करने का प्रचलन है। प्रणाम करने का तात्पर्य ही इतना है कि स्वयं को यह याद दिलाना कि उस ओमकार को प्राप्त करना ही मेंरे जीवन का लक्ष्य है। यह मेरे जीवन का लक्ष्य है और जिसे प्रणाम किया, उसके जीवन का भी लक्ष्य यही है। कई बार हमें पता भी नहीं होता कि हमें जीवन में करना क्या है। पाना क्या है, खोजना क्या है? प्रणाम आपको एक लक्ष्य देता है। अपने भीतर छिपे अपने सत्य को खोजने का क्योंकि सत्य की अनुपस्थिति में जीवन सम्भव ही नहीं। हममें यदि सत्य है तो ढूँढना ही चाहिए। यदि आपने जीवन में सत्य का साथ लिया यदि उसके नजदीक भी पहुँच गए, तो इस शरीर का लेने का अभिप्राय सिद्ध हुआ। कम से कम जीवन में पदार्थों के बीच में, माया के बीच में यूँ ही भटकते तो न रहेंगे और यदि भटकते भी रहे तो यह जान के कि यह तो अणु व परमाणुओं का विन्यास है। एक विशेष विन्यास जो अपना आकार परिवर्तित कर लेगा परन्तु इसके पीछे भी कुछ और है जो शाश्वत है। जो मेरा अस्तित्व है बस वह छुपा हुआ है। हमारी दृष्टि से ओझल है। इस कारण हम उसे जान नहीं पाते। प्रणव आपको यही लक्ष्य देता है, जो कुछ भी अप्राप्य है उसे प्राप्त करो और इसे ही योग कहते हैं। प्रणाम आपको याद दिलाएगा कि पदार्थ के पार जो प्रणव है, उसके बारे में भी कुछ विचार कर लो। अपनी यात्रा जो प्राण से प्रणव तक होगी। उसका भी एक खाका खींच लो। अपने जीवन के लक्ष्यों को स्पष्ट रखो। वे पदार्थ, पदार्थ पर शुरू होकर, पदार्थ पर ही खत्म नहीं हो जायेंगे। क्यूँकि तुम्हारी उत्पत्ति हुई ओम से तो यह ओम पर ही जाकर खत्म होंगे। इस लक्ष्य में स्पष्टता रखनी आवश्यक है। जीवन में जब महसूस हो कि सभी लक्ष्य प्राप्त कर लिए गये, अब कुछ बाकी न रहा तो उसी क्षण अपनी यात्रा प्रणव की ओर प्रारम्भ कर देना। जिस दिशा से

आये थे उसी दिशा से वापस लौट जाना। अपने स्रोत की ओर। अपनी परिधि से केन्द्र की तरफ यात्रा तय करना। यह यात्रा तब पूर्ण होगी जब स्वयं को पहचान जाओगे। अपनी सांसारिक पहचान खोकर, प्रणव में अपनी पहचान प्राप्त कर लोगे।

प्र अर्थात् सत्य, ण अर्थात् कारण और व अर्थात् वर्तमान। वर्तमान में स्थित होकर स्वयं के होने का कारण, जो सत्य है, उसे प्राप्त किया जा सकता है। आमि की यह घोषणा है कि स्वयं के भीतर ही उसे पाया जा सकता है।

❖❖❖

आसन

कृष्ण ने कहा है कि शरीर को बस यंत्र जानो, और उस यंत्र का पूर्णतया रख–रखाव करो क्योंकि यही तुम्हें अपने लक्ष्य में पहुँचने में सहायता देगा। यह वही देह है जिसे पाने को देवता भी ललायित रहते है क्योंकि इस देह के माध्यम से ही कर्म किये जा सकते है तथा अपने पूर्व कर्मों को भी भोगा इससे ही जाता है। अतः देह पाई है तो उसका पूर्ण उपयोग करो। इस शरीर की देख–रेख में आसन सहायता देंगे। यह शरीर पर बढ़ते उम्र के प्रभाव को विलम्बित करने में सहायक होंगे। जिससे शरीर ज्यादा काल तक आपकी सेवा कर सके। शरीर के लचीलेपन को बनाये रखने के लिए शरीर पर पड़ने वाले काल व पर्यावरण के प्रभाव को नियंत्रित करना आवश्यक है। आसन योग नहीं, योग में सहायक है। आसन आपके शरीर से जुड़ी परिस्थितियों से जूझना आसान कर देते हैं। यह समस्त अंगों की देखभाल और उनके आकार एवं क्षमता को बनाये रखने में प्राणी की सहायता करते हैं। शरीर पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों को भी कमजोर करते हैं। शरीर की आन्तरिक जीवनीशक्ति को बढ़ाते हैं। शरीर की क्षति भरने की दर को

भी बढ़ाकर, उत्तकों को पुनः अपने स्वरूप में आने में मदद करते हैं। यह शरीर को माया के वश से निकालकर माय के बस में, अर्थात स्वयं के वश में देने के सहायक है। अब इस शरीर का नियंत्रण माया के जाल से छूट कर धीरे–धीरे आपके हाथ में आने लगता है। माया इस शरीर को कमजोर करना चाहती है। वह इसे रुग्ण करना चाहती है। वह इसे बुढ़ापे की तरफ ले जाना चाहती है, समय के पूर्व ही। वह पूरा प्रयास करती है कि आप जीवन के अपने लक्ष्यों को प्राप्त न कर पायें। वह आपको भ्रामक लक्ष्य भी देती है और लक्ष्य से रोकने का उपाय भी करती है। वह आपको उपाय भी देती है और उपायों की काट भी। इसी कारण उसे माया कहा जाता है। आसन से शरीर को लचीलापन प्राप्त होता है। शरीर में रक्त संचरण बेहतर होता है। जिसके कारण सभी अवयव अपना कार्य समान्य रूप से करने में व्यस्त रहते है न की शरीर पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों को रोकने में या हो चुके नुकसान की भरपाई में।

आसन से शरीर की अतिरिक्त चर्बी समाप्त होती है, जिससे कि शरीर हल्का रहता है। आसन के द्वारा मन को प्राप्त ऊर्जा का उपयोग शरीर को स्वस्थ रखने में कर लिया जाता है। जिससे वह ऊर्जा जो शरीर के विरुद्ध उपयोग हो सकती थी, वह शरीर के रख–रखाव में उपयोग कर ली जाती है। इस प्रकार आसन ऊर्जा के नकारात्मक उपयोग को सकारात्मक उपयोग में बदल देता है।

शिव का गंगा को जटाओं में धारण करना

शिव और शक्ति इस सृष्टि के एकमात्र पुरुष और स्त्री हैं। शिव और शक्ति से मिलकर ही इस शरीर की रचना होती है। जीवों का पुरुष या स्त्री के रूप में वर्गीकरण मात्र इस बात पर निर्भर करता है कि जीव में प्रकृति तत्व की मात्रा ज्यादा है या कम। जिन जीवों में प्रकृति तत्व ज्यादा होता है वे स्त्री रूप में और जिन जीवों में प्रकृति तत्व एक नियत स्तर से कम होता है वे पुरुष रूप में विकसित होते हैं।

हर शरीर में उपस्थित शक्ति को ही गंगा कहा जाता है। हर प्रवाह गंगा का ही स्वरूप है। चाहे वह जल का हो या ज्ञान का क्यूँकि उसका काम ही प्यासे को पानी पिलाना, शरीर और मन के मैल को साफ करना और पवित्रता प्रदान करना है। गंगा की महत्ता इससे बढ़ जाती है कि भारत की चालीस प्रतिशत आबादी अपनी जल सम्बन्धित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गंगा पर ही निर्भर है। गंगा सिर्फ मनुष्यों के लिए ही नहीं प्रवाहित होती। गंगा के बेसिन में रहने वाले जीव–जन्तु भी गंगा पर ही निर्भर हैं। मनुष्य पवित्रता को समझता है लेकिन जीव–जन्तु नहीं परंतु दोनों ही प्यास और तृप्ति को जानते हैं।

शिव प्रकृति के लिए समर्पित हैं और प्रकृति शिव के लिए। जिज्ञासु शिव हर उस तपस्वी के लिए भी समर्पित हैं, जो स्वयं में प्रकृति के तत्व को बढ़ाने हेतु तपस्या में रत हैं। जिस प्रकार शिव की जटाओं में गंगा ने बँधना स्वीकार किया, उसी प्रकार शक्ति शिव के सानिध्य में आते ही अपने स्वाभाविक कार्य में रत हो जाती है। जो है उत्पत्ति, पालन–पोषण और सुरक्षा। व्यक्तित्व अकेलापन महसूस कर सकता है परंतु चेतना सदैव ही प्रकृति गोद में पूर्ण सुरक्षित है। प्रकृति का चेतना के प्रति समर्पण इस बात से समझिए कि चेतना शरीर में तभी तक रह सकती है जब तक कि जीवनीशक्ति है। जीवनीशक्ति के समाप्त होते ही प्रकृति पुनः चेतना को स्वयं

में समेट लेती है। शक्ति चेतना को मन के साथ अकेला नहीं छोड़ती। मन प्रकृति के बिना स्वतः क्रियान्वित नहीं हो सकता।

शक्ति से बँधे होने के कारण चेतना और शक्ति दोनों का ही गंतव्य शिव ही हैं। शिव ही सत्य है और सुंदर भी। शिव से मिलकर शक्ति, काली के रौद्र रूप को त्याग, पार्वती का सौन्दर्य प्राप्त करती है और चेतना सत्य के ज्ञान को। गंगा का प्रवाह जितना अविरल होगा, सभ्यता के लिए वह उतना ही लाभदायक होगा। चाहे वह जल के रूप में हो या ज्ञान के रूप में।

❖❖❖

सात्विक भोजन

एक पशु को भोजन करते हुए देखें। दुर्गन्धित, स्वादहीन व दूषित भोजन करने में उसे कोई समस्या नहीं बल्कि वो उसे बहुत ही चाह से खा लिया करता है। अब वह भले ही उसे हानि पहुँचाए परन्तु इसके बारे में भी कोई सोच–विचार की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार का भोजन तामस भोजन कहलाता है जो हिंसा से, पेट भरने व जीवित रहने हेतु शरीर को होने वाले लाभ या हानि से विचारहीन होकर, ग्रहण किया जाये।

सात्विक भोजन के बारे में कहते है कि वह भोजन जो शरीर को ऊर्जा देने हेतु किया जाये न की स्वाद हेतु। वह भोजन जो रसीला हो। प्रकृति में ऐसे कई फल हैं जो अत्यन्त रसीले व स्वादिष्ट हैं तथा जिनका प्रभाव स्थिरता देने वाला होता है, वे शरीर को पोषकतत्व प्रदान करते हैं। लवण रहित अर्थात नमक की मात्रा अत्यंत कम क्योंकि नमक सब्जी और अन्न में जितना उपलब्ध है उतना प्रर्याप्त है। 87 लाख यूकैरयोटिक स्पीशीज़ में केवल मनुष्य ही नमक का सेवन करता है। 86.99

लाख स्पीशीज़ इसके प्रयोग में रुचि नहीं लेते। भोजन आवश्यकता पड़ने पर हो, आदत के कारण नहीं। भोजन का तो मात्र उद्देश्य है शरीर रूपी इंजन को ईधन देना। शरीर रूपी यंत्र को ऊर्जा देने के साथ ही, अत्यधिक रसीले व स्वादिष्ट फलों की प्रकृति ने उचित व्यवस्था की है। उनका उपयोग निश्चित तौर पर किया जाना चाहिए। दुर्गन्ध देने वाले तथा वसा युक्त भोजन से परहेज करना ही उचित है।

वह भोजन जो मनुष्य के भीतर ही तामसिक व राजसी वृत्तियों को बढ़ावा न दे, सात्विक भोजन है। हर वह भोजन जिसे जीभ पसंद करती है तथा मन जिसके लिए व्यग्र रहता है, राजसी भोजन है। राजसी भोजन का अभिप्राय जीभ व मन को संतुष्ट करना है, भले ही इसके लिए शरीर के साथ अन्याय करना पड़े। सभी जंक फूड राजसी भोजन की श्रेणी में होते हैं। ये मोटापे को बढ़ाकर, शरीर के विभिन्न तंत्रों के प्रति अघोषित युद्ध छेड़ देते हैं। जिससे शरीर में बीमारियाँ बढ़ने लगती हैं।

मन जिस प्रकार के भोजन को पसंद करता है, वे सभी भोजन मनुष्य को अशांत करते हैं। मन को अशांत रहना पसंद है। यही उसकी सफलता है।

भोजन पचाने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है, जिसे पाचनशक्ति कहते हैं। अनावश्यक व पचने में कठिन भोज्य पदार्थ ज्यादा पाचनशक्ति की माँग करते हैं, जिससे शरीर को उपलब्ध शक्ति व्यर्थ होती है। संन्यासी अपनी शक्तियों को संघनित करता है। वह अपनी शक्ति को व्यर्थ नहीं करना चाहता। इसी कारण वह ऐसे भोजन का चुनाव करता है, जो ज्यादा मात्रा में शक्ति दें, साथ ही उपस्थित शक्ति को व्यर्थ भी न करे।

कुंभ मेले का महत्व

कुम्भ मेला एक अद्वितीय अवसर उपलब्ध करवाता है। जहाँ गृहस्थ, संन्यासी, संत व योगी एक ही स्थान पर एकत्र होते हैं। प्रयाग में गंगा, यमुना व सरस्वती के रूप में तीन धाराएँ आकर मिलती हैं। गृहस्थ परिवार में संतुष्टि व समाज में सफलता ढूँढ रहा है। संन्यासी संतृप्ति ढूँढ रहा है, जिसके लिए वह प्रयासरत है। वहीं संत अब संतृप्त हो चुका। गृहस्थ संन्यास जगत से पूर्णतः अनभिज्ञ है। उसके लिए संन्यासी का जीवन नीरस और एक पहेली है। गृहस्थ न शांति को ही जानता है और न ही आनंद को। वहीं संन्यासी के लिए गृहस्थ का जीवन बोझिल व भ्रम से परिपूर्ण है। हर संन्यासी कभी गृहस्थ था। वह गृहस्थ जीवन की अपेक्षाओं व उसके भावनात्मक उतार–चढ़ाव से परिचित है।

यह संगम स्थल दो जगत के मिलने का स्थान है, जहाँ कर्मकाण्डी, ज्ञानकाण्डियों से मिल सकते हैं। सनातन धर्म के दो मुख्य भाग कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड हैं और दोनों ही भागों के अलग–अलग यात्री हैं। साधक या सिद्ध जो हिमालय या फिर अन्य निर्जन स्थानों पर एकांत में तपस्या किया करते हैं, वे सभी कुम्भ मेले में अवश्य एकत्र होते है। और उनकी उपस्थिति का कारण भी यही है कि वहाँ पर नये साधक व जिज्ञासु व्यक्तियों से मिला जा सके या जो भी आंतरिक प्यास लेकर आये उसका उचित मार्ग दर्शन किया जाये। यह एक दायित्व है जिसका वे सभी पालन करना चाहते हैं। जब सनातन धर्म की दो विभिन्न धाराएँ आकर मिल जाया करती है तो व एक दूसरे के अनुभवों से, अपने आगे की मार्ग की बाधाओं को दूर करने का प्रयास करती हैं। ये दो जगत के यात्री हैं जो अलग–अलग यात्राओं पर है। एक ऐश्वर्य को पाना चाहता है जैसे सुख, सम्पदा, सम्पत्ति, सम्मान, और दूसरा जो इन सभी को पीछे छोड़ अब जीवन के रहस्यों को पा लेना चाहता है। वह सत्य को जानना चाहता है। वो अज्ञात की यात्रा पर निकल पड़ा है। उसने अपने विभिन्न जन्मों में व्यक्तित्व जगत और माया को पूर्णरूपेण देख लिया। उसे भोग

लिया, वह संतुष्ट हो चुका है। अब उसे आगे की यात्रा तय करनी है और इसी यात्रा पर वह सत्य को व स्वयं को ढूँढने निकला है। पूरे विश्व के घटनाक्रम में ये अपूर्व घटना है जब गुरू शिष्य के पास आता है। जहाँ एक सम्भावित शिष्य व एक योग्य गुरू के बीच तत्व व सत्य की चर्चा हो सकती है। सिद्ध व परम के अनुभव बाँटे जा सकते हैं। सत्य प्राप्ति के विभिन्न मार्ग प्रेम, ज्ञान, भक्ति, विवेक, सेवा और योग इन सभी के साधक या सिद्ध इस एक स्थान पर एकत्र होकर अपनी–अपनी साधनाओं की तुलना, उनके परिणाम व विभिन्न मार्गों की कठिनाईयाँ व उनकी सरलता, इन सभी बातों के बारे में मुक्त रूप से चर्चा कर सकते हैं। कुंभ सत्य की प्यास रखने वाले प्राणियों के लिए एक अपूर्व उत्सव है।

❖❖❖

ग्रहण में भोजन का निषेध क्यों?

सूर्य और चन्द्र ग्रहण के समय भोजन का निषेद्य यह संकेत देने हेतु किया गया कि जीवन में जब कभी ग्रहण आये, जब कभी दुर्दिन हो, कष्टकारी समय चल रहा हो, तब भोजन की मात्रा घटा देनी चाहिए। भोजन सिर्फ उतना ही लिया जाये जितनी कि शरीर की ऊर्जा आवश्यकताओं को पूरा करने की लिए पर्याप्त हो, उससे ज्यादा नहीं। ज्यादा भोजन आपके उपापचय की दर को बढ़ा देता है। इस भोजन को पचाने में शरीर को ज्यादा ऊर्जा खपानी पड़ती है और इस कारण मेटाबालिज्म और रक्तचाप बढ़ जाता है। जब बुरा समय चल रहा हो तो मन आशंकाओं से घिरा रहता है। भयाक्रान्त होकर सम्भावित खतरे और भय से परेशानी व कष्ट का अनुभव करता है। ऐसे समय में बढ़ा हुआ वजन समस्या का कारण है। ग्रहण में भोजन की मात्रा सदैव नियंत्रित होनी चाहिए। जिस प्रकार उच्च रक्तचाप में नमक

की मात्रा को भी अतिसीमित कर दिया जाता है। ठीक उसी प्रकार जीवन के ग्रहणकाल में आप भोजन करें तो नमक से बचने का प्रयास करें। भूख लगने पर ही भोजन करे तथा भूख समाप्त होते ही भोजन भी रोक देना चाहिए। मन शरीर को प्राप्त ऊर्जा का उपयोग अपनी उद्देश्यपूर्ति में करता है। बुरे समय में व्यक्ति का अपना मन ही उसे सबसे ज्यादा दुख देता है। बुरे समय में अपना ही मन ज्यादा सक्रिय हो उठता है। यदि अपना मन शांत हो तो बुरे समय का सामना ज्यादा सफलतापूर्वक किया जा सकता है। उपवास से मन को कम ऊर्जा प्राप्त होती है। इस कारण मन अनियंत्रित रूप से कार्य करने में असमर्थ होता है। इस प्रकार ग्रहणकाल को भी शरीर की शुद्धि काल के रूप में बदला जा सकता है। कम भोजन लेने से उपापचय की दर तथा रक्तचाप दोनो की दर सामान्य के नजदीक अथवा समान बनी रहती है। इस प्रकार तनाव द्वारा शरीर पर पड़ने वाली कुप्रभावो से इसकी रक्षा की जा सकती है। खट्टा, नमकीन, तैलीय व उच्च वसायुक्त भोजन मन को प्रिय होता है। तैलीय व उच्च वसायुक्त भोजन से ज्यादा ऊर्जा अवमुक्त होती है। इस अनावश्यक ऊर्जा का उपयोग मन अपने ही शरीर के विरुद्ध करता है। ऐसे भोजन को पचाने में ज्यादा पाचनशक्ति खर्च होती है। शरीर में शक्ति के कम होने से शरीर रोगी व मन अशांत होने लगता है। अशांत मन ही अधिकतर समस्याओं की जड़ है।

शक्ति ही मन का मुकाबला करती है और उसे अनियंत्रित होने से रोकती है। इस कारण ग्रहणकाल में शक्ति संचयन सबसे उपयुक्त उपाय है।

स्वास्तिक

स्वास्तिक जीवन की यात्रा को प्रदर्शित करता है। इसके चार भुजाएँ चार पुरूषार्थ, धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष को इंगित रखती है। जिस प्रकार जीवन का चक्र सदैव सृष्टि में चलता रहता है। ठीक उसी प्रकार जीवन भी इन चार चरणों में व्यस्त रहता है। धर्म अर्थात अपने गुणों को पहचान, अपने स्वभाव के अनुरूप कर्मो का चयन कर, पूर्ण कर्म योग से अपने कार्य को सम्पादित करना। धर्म का तात्पर्य अपने स्वभावगत विशेषताओं का ध्यान रखते हुए उसके अनुरूप ही कर्म करना। अपने स्वभाव के अनुरूप किया गया कर्म सदैव अपने स्वभाव के विपरीत किए गये कर्मों से बेहतर होता है। बाह्य जीवन की यात्रा पदार्थों की यात्रा है, पदार्थिक सिद्धियों की यात्रा है। इस कार्य में धन की आवश्यकता होगी। मनुष्य अपना स्वभाविक कर्म करता हुआ धन प्राप्त करता है और इस प्रकार धन से सम्बन्धित कार्य पूर्ण कर अपनी कामनाओं को शांत करता है। काम अर्थात कामनाएँ। विभिन्न सांसारिक सुखों की कामनाएँ, पदार्थों को प्राप्त करने की कामनाएँ धन, सुख, सम्पदा, वैभव, सम्मान की कामनाएँ, शरीर से प्राप्त किए जाने वाले सुखों की कामनाएँ। इन कामनाओं को संतृप्त कर व्यक्ति मोक्ष की तरफ चला जाता है क्योंकि कामनाओं की संतृप्ति हुए बिना वह लौकिक से पारलौकिक जगत की छलांग न ले पायेगा। इस कारण उसे अपनी कामनाओं की संतुष्टि कर उनसे आगे बढ़ने का मार्ग ढूँढ लेना चाहिए। मोक्ष अर्थात मुक्ति। इस चक्र से मुक्ति, इस बन्धन से मुक्ति, शरीर से मुक्ति इस जीवन और मृत्यु के सत्त आवागमन से मुक्ति। स्वास्तिक जगत के सभी चरणों व लक्ष्यों को इंगित करने हेतु सनातन धर्म का एक मुख्य चिह्न है। ताकि देखने तथा समझने वाले लोग इस बात को समझ जाये कि किन–किन

तलों से होकर अपनी यात्रा को आगे बढ़ना होगा। किसी एक तल पर रुकने का कोई प्रयोजन नहीं, कोई आवश्यकता भी नहीं। हर एक तल पर संतुष्टि पाकर आगे जाना ही यात्रा है। रूकना यात्रा नहीं। यह बात याद रखनी होगी कि ऊर्जा का रूप सदैव परिवर्तित होता रहता है। वह नष्ट नहीं होती, ठीक उसी प्रकार इन तलों को छोड़कर आगे बढ़ना ही होगा। वरना एक ही तल पर समाप्त हो जाने की सम्भावना होगी। उचित ये होगा कि उसकी यात्रा को उसके चरम पर ले जाकर छोड़ा जाये, मध्य में नहीं।

❖❖❖

पैर छूना

एक विकास है झुकने की कला आना, विनम्रता का परिचय देना, अहंकार से दूर जाना। इसमें सामने वाले की गुरूता से ज्यादा अपनी लघुता स्वीकार करने का भाव है और यही झुकने की कला प्रस्तुत कर देती है। ग्रहण करने के लिए झुकना अर्थात अपनी ज्ञानेन्द्रियों को धरती के पास लेकर जाना, जो सदैव धारण करती है। जो अहंकार से मुक्त स्वयं को पद दलित किये जाने पर भी, अपने कर्म से विमुख नहीं होती। धरती प्रकृति को अपनी लीला करने के लिए स्थल प्रदान करती है। व्यक्ति परम गुणी हो या दुर्गुणी उसके लिए सभी समान हैं, उसके पास चयन नहीं है। आकाश आपको विस्तार करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है परन्तु यह इसी कारण सम्भव हैं कि पृथ्वी ने आपको आधार दे रखा है। अहंकारहीन होकर पैर छूकर आप शरीर के उस अंग के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं जो धरती से सदैव जुड़ा हुआ है। पैर छूकर आप शरीर के उस अंग के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं

जो अहंकार में सबसे कम है। शरीर का कोई अंग है जो पूर्ण अहंकारहीन होकर अपना कार्य पूरी समग्रता से कर रहा है और इसी कारण अन्य अंगो को स्वतंत्रता मिली हुई है कि विभिन्न कार्यों को पूर्ण कर सके अथवा अपने विचारों को आकार दे सके। पैर छूने की प्रक्रिया में आप उस धरती के निकट आ जाते हैं, जो कमल से लेकर कीचड़ तक को धारण किये हुए है। वह धरती जो उन लोगों के लिए भी अन्न, फल, जल, व भोजन प्रदान करती है जो इस बात को भी भूल चूके होते है कि वे धरती पर ही स्थित हैं, वे इससे ही जुड़े हुए हैं। आप अपनी पदार्थिक व पारलौकिक लक्ष्यों को सिर्फ इसलिए प्राप्त करने में समर्थ है क्योंकि सृष्टि अपना कार्य पूर्ण अहंकारहीनता के साथ कर रही है। अहंकार विचारों के साथ आता है परन्तु विनम्रता, विचारहीन है। पैर छूना अर्थात शरीर के सबसे अहंकारहीन व समर्पित भाग के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना।

❖❖❖

गंगा स्नान क्यों?

पुराणों में गंगा के संबंध में जो कथा प्रचलित है, उसमें भगीरथ और शिव का उल्लेख आता है। भगीरथ जिन्होंने गंगा को पृथ्वी पर उतारने हेतु कठोर तपस्या की और दूसरे शिव जिन्होंने स्वर्ग से द्रुत गति से उतरती गंगा को अपनी जटाओं में धारण कर उसके वेग को शांत किया।

वास्तव में हर एक व्यक्ति एक सूक्ष्म सृष्टि के समान है, जिसमें पूरी सृष्टि के तीन प्रमुख तत्व अर्थात सत्य, प्रकृति व माया तीनों हैं। सत्य के प्रतिनिधि के रूप में स्वयं परमात्मा और परमात्मा को जानने वाली चेतना स्थित है। प्रकृति की

प्रतिनिधि के रूप में शक्ति व पंचतत्व (पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु और आकाश) स्थित हैं व माया के प्रतिनिधि के रूप में मन, बुद्धि व अहंकार तीनों उपस्थित हैं।

हर शरीर एक द्विध्रुवीय व्यवस्था के अंतर्गत निर्मित है, जिसके दो ध्रुव हैं– शिव और शक्ति।

भागीरथ ने कठोर तपस्या की तथा स्वयं को अपने मन के नियंत्रण से मुक्त किया। हर तपस्वी, तपस्या में अपने ही व्यक्तित्व व भ्रामक पहचान को जलाकर भस्म कर देता है, जो उसके मन द्वारा दिए गए होते हैं। इस प्रकार वह अपनी चेतना को पुनः प्राप्त करता है। स्वयं को प्राप्त करने की यह अवस्था ही स्वर्ग कहलाती है। इस स्वर्गिक अवस्था में उसकी आंतरिक सुषुप्त शक्ति सक्रिय हो उठती है।

हर व्यक्ति के भीतर उपस्थित यह शक्ति ही गंगा है। हर वह संन्यासी भगीरथ है, जो अपने भीतर की इस शक्ति को जाग्रत करता है। जाग्रत होने के पश्चात यह शक्ति व्यग्र होती है, शिव को पाने के लिए। इसी कारण वह शिव को पाने की अपनी यात्रा पर निकलती है। शिव भी इसी शरीर में स्थित हैं। कपाल के मध्य में स्थित सहस्त्रार चक्र ही वह स्थान है, जहाँ पर जटाओं को धारण किया जाता है। इस प्रकार जटाएँ सहस्त्रार चक्र को इंगित करती हैं। सहस्त्रार चक्र पर स्थित शिव से मिलकर शक्ति शांत हो जाती है। इस सौम्य शांत रूप में शक्ति सहस्त्रार चक्र, जो शरीर का उत्तरी छोर भी है, से बाहर निकलकर सभी जीवों के लिए समर्पित हो जाती है।

व्यग्र शक्ति, शिव से मिलकर अध्यात्मिक शक्ति में बदल जाती है और इस प्रकार ज्ञान की गंगा का उद्‌गम होता है। पृथ्वी पर उपस्थित हर व्यक्ति अपने भ्रमों से मुक्ति पाने के लिए इस ज्ञान की गंगा में स्नान कर सकता है। ईश्वर ने इस ज्ञान की गंगा की व्यवस्था ही इस कारण की कि जिज्ञासु इसमें डुबकी लगा

अपने शरीर और मन को स्वच्छ कर सकें। साथ ही अपनी जिज्ञासा की प्यास को भी वे इसी गंगा के जल से बुझा सकें।

ईश्वर द्वार यह क्षमता हर एक व्यक्ति को प्रदान की गई है कि वह अपने भीतर से ही गंगा का उद्‌गम कर सकता है। इस प्रकार अपनी शक्ति की प्रकृति को समर्पित कर वह मुक्त हो जाता है। सृष्टि का वह भाग जहाँ शक्ति का प्रवाह निर्बाध है, अविरल है, वह माया के बंधनों से मुक्त है। जिस प्रकार मनुष्य गंगा पर बाँध बनाकर उसके जल को रोक देता है। ठीक उसी प्रकार मन भी व्यक्ति को शक्ति से विरत कर उसे बंधक बना लेता है। मन के इसी बंधन से छूटना मोक्ष है।

❖❖❖

काशी में शरीर त्याग पर मोक्ष

काशी नगरी को शिव की नगरी कहा जाता है अर्थात सत्य की नगरी अर्थात सत्य से सम्बन्धित पर्याप्त संकेत आपको यहाँ मिलेंगे। बस सचेत होने की आवश्यकता है, जागृत होने की आवश्यकता है। शिव के त्रिशूल के तीनों शूल ब्रह्मा, विष्णु, महेश को इंगित करते है और नीचे का दण्ड उस परम ब्रह्म को इंगित करता है अर्थात एक परम् ब्रह्म के ये तीन भाग हैं ब्रह्मा, विष्णु और महेश और उसी परम तत्व के ऊपर स्थित काशी है। जहाँ पर शिव हैं, वहाँ निर्गुणता है, वहाँ समत्व है। न पक्ष है न विपक्ष, न राग है न द्वेष, न कोई अपना है न कोई पराया, न कोई सुख में है न कोई दुख में। निर्गुणता के इसी भाव में शरीर त्यागने का अर्थ है मुक्ति। मुक्ति अर्थात जब आसक्ति ना बची हो, जब आसक्ति ही समाप्त हो गई तब बन्धन कैसा। ईश्वर आपको स्वतंत्रता देते हैं।

अपने मार्ग पर चलने की पूर्ण स्वतंत्रता। जब आपने स्वयं ही यह मार्ग छोड़ दिया। इच्छा स्वयं ही त्याग दी। तब कोई दूसरी शक्ति न बची जो आपको इससे बाँध कर रखेगी। मार्ग का चयन आपने किया और सत्य ने आपको गन्तव्य दिखाया। धरती पर स्थित काशी हर व्यक्ति में उपस्थित उस काशी की ओर संकेत करती है। जहाँ पहुँच कर गंगा स्नान किया जा सकता है।

हिन्दू धर्म में पदार्थिक आकार की सहायता, अपदार्थिक सनातन, शाश्वत सत्य की ओर इशारा करने के लिए ली गई ताकि हर एक प्राणी के लिए ये संकेत सहजता से उपलब्ध हो। काशी में जाकर शिव को ढूँढने का प्रयास मत कीजिएगा। वे स्वयं आपके भीतर उपस्थित हैं। उन्हें कोई मनुष्य भी मत मानिएगा। वो आपकी ही एक अवस्था है और आपको प्राप्य भी। उसके लिए त्याग समर्पण, भक्ति या कोई एक उचित मार्ग की आवश्यकता होगी, जो सत्य की ओर ले जाने में सहायक होगी। आपकी पूजा का अभिप्राय यह भी है कि आप इन प्रतीक चिन्हों में छुपे संकेत ढूँढने का प्रयास करें। वे आपके सामने ही है, बस ढूँढे जाने की आवश्यकता है।

❖❖❖

आकाशवाणी

अन्तस ही आकाश है। जब वह पूर्णतः शान्त हो, तरंगें न उठ रही हों, विचारों का प्रवाह न हो, न कोई सोच हो, न कोई विचार। एक परिपक्व अवस्था, जिसमें भीतर एक ध्वनि प्रकट होने की पूर्ण संभावना होती है। इस ध्वनि में इतनी प्रबलता होती है कि आप जान जाते हैं कि यह एक विचार नहीं। आप उसके बारे में सोच भी नहीं रहे होते। आपको उस विषय में पता भी नहीं होता और

एकाएक जैसे कोई आपके भीतर स्पष्ट शब्दों में कुछ कह के चला जाए। अविश्वास करने का कारण ही नहीं। मन्थरगति से उठते विचारों पर आप भले ही ध्यान न दें परन्तु इस सशक्त वाणी पर अविश्वास का कोई कारण नहीं बनता। इस वाणी के पहले और बाद में पूर्ण शान्ति होती है। कोई विचार भी नहीं उभरता। विचारों की अनुपस्थिति में एक वाणी। व्यक्ति इस पर विचार भी नहीं कर सकता क्योंकि यह विचार से परे है। आप इस पर अविश्वास नहीं कर सकते क्योंकि इसके लिए भी आपको विचारों की आवश्यकता पड़ेगी। इसे बस सुना जाता है और जान लिया जाता है। इस वाणी की सघनता कुछ ऐसी होती है कि सिद्धार्थ बुद्ध बन जाया करते हैं। इसमें परिवर्तन ला देने की, क्रान्ति घटित कर देने की असीम क्षमता होती है। इस वाणी में जीवन की धारा को मोड़ देने की क्षमता होती है। वह वाणी जिसे पहले कभी नहीं सुना। आप इस पर मन्थन नहीं करते, बस इसे जान जाते हैं। यह वह वाणी है जो विवेकानन्द को उनके जीवन का उद्देश्य बता देती है। जिसे सुनने के बाद उन्हें किसी और से पूछने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस वाणी को जब कंस सुनता है तो उसे ज्ञात हो जाता है कि देवकी की आठवीं सन्तान ही उसके वध का कारण बनेगी। अब अविश्वास का कोई कारण नहीं बचता। आकाशवाणी कहीं बाहरी आकाश से नहीं आयेगी। यह जब भी आयेगी भीतरी आकाश से ही आयेगी।

❖❖❖

अर्धनारीश्वर शिव

सत्य तथा सत्य का विस्तार, प्रकृति। दोनों मिलकर ही सृष्टि को पूर्णता प्रदान करते हैं। शिव का अर्धनारीश्वर स्वरूप, जिसमें आधा भाग शिव का और आधा भाग पार्वती का है, इसी तथ्य की ओर इंगित करते हैं। इसी कारण पूर्वकाल में भी सत्यानवेषी सत्य को खोजने की प्रक्रिया में पहले प्रकृति की शरण में ही गये। प्रकृति से उन्होंने सत्य को पाने का मार्ग प्राप्त किया। प्रकृति का आनन्द और शान्ति मिलकर ही ओम शान्ति का निर्माण करते हैं। प्रकृति अर्थात् सत्यकृति। सत्य इसलिए इसमे माया का कोई अंश नहीं। प्रकृति, जो प्रजनन भी करती है और पालन–पोषण भी। प्रकृति ही सत्य की प्रतिनिधि व विस्तार भी है। सत्य प्रकृति में समाहित है और प्रकृति सत्य में। प्रकृति ही जीवन चक्र चलाती है। दोनों ही एक दूसरे पर निर्भर हैं। प्रकृति सत्य द्वारा प्राप्त बीज को ग्रहण कर उसे एक शरीर का रूप देती है ताकि जीव सत्य की ओर अपनी यात्रा प्रारम्भ कर सके। जिसप्रकार ऋतुओं का चक्र चलता रहता है– जाड़ा, गर्मी, बरसात, और पुनः जाड़ा, ठीक उसीप्रकार सत्य, प्रकृति, माया और पुनः सत्य का चक्र चलता है। इसी तथ्य को श्रीकृष्ण कुछ इस प्रकार से कहते हैं कि कल्प के प्रारम्भ में मैं उनका निर्माण करता हूँ और कल्प के अन्त में वे मुझमें समाहित हो जाते हैं। इसी बात को विज्ञान इसप्रकार कहता है कि ऊर्जा का कभी नाश नहीं होता। वह बस अपना स्वरूप परिवर्तित करती है। अर्धनारीश्वर का स्वरूप यही तथ्य आपको प्रतिकात्मक स्वरूप में बतलाता है।

❖❖❖

तिलक

तिलक ललाट पर दोनों नेत्रों के मध्य में लगाया जाता है। इस स्थान को कूटस्थ या आन्तरिक दृष्टिस्थल भी कहते हैं। तिलक लगाने के पीछे स्पष्ट रूप से कुछ संकेत होते हैं। सूक्ष्म शरीर में यह स्थल आज्ञा चक्र का माना जाता है। आज्ञा चक्र अर्थात् जहाँ से आप को सृष्टि के रहस्यों की तथा स्वयं के बारे में जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। इस स्थल के जाग्रत होते ही व्यक्ति, सभी घटनाओं को उनके मूल रूप में समझने को तैयार हो जाता है। अब वह बाह्य आवरण से आगे जाकर उनके भीतर छुपे कारण को समझ सकता है। उनकी उत्पति व उनके होने के कारणों को जान जाता है। माथे पर तिलक लगाने का तात्पर्य सिर्फ इतना है कि व्यक्ति को इतना स्मरण रहना चाहिए कि जीवन में यह एक गंतव्य है जिसे प्राप्त कर लेना होगा। यह एक स्थल है, यह एक चक्र है, जिसे जाग्रत हो जाना चाहिए। जिससे आप अपने होने के कारण को जान जाते हैं। कूटस्थ या आंतरिक दृष्टि जाग्रत होने पर आप यह समझने में सक्षम हो जाएंगे कि पृथ्वी पर आपकी उपस्थिति किस कार्य को पूर्ण करने के लिए हुई है। जब तक यह नहीं होता तब तक व्यक्ति, सामान्य जीवन जीता रहता है। सुबह उठने से लेकर रात्रि निद्राकाल तक, वही घिसे–पिटे कर्म करता है जो वह मात्र एक जड़–जीव के रूप आदिकाल से करता आ रहा है। अर्थात्– दिनभर धनोपार्जन, रात को परिवार के साथ समय व्यतीत और निद्रा। जीवन भर वह यही करता रहता है परन्तु अपनी भूमिका के स्पष्ट होने के बाद वह उन कार्यों को करने के लिए तैयार हो जाता है जिनके निमित्त उसका अवतरण हुआ है। माथे पर तिलक लगाने की परम्परा आपको संसार में आपकी भूमिका की ओर ही सचेत करना है। आपने साधुओं और संन्यासियों को पूरे

मस्तक पर चन्दन लगाए देखा होगा, इसका कारण भिन्न है। जिन साधुओं एवं महात्माओं में यह चक्र जाग्रत हो उठता है वह अपनी साधना पथ पर या अपने कर्मयोग के पथ पर आगे बढ़ जाते हैं। उनकी चेतना ललाट पर आकर स्थित हो जाती है। इससे कभी–कभी उनको सिर में भारीपन का भी एहसास होता है। इस भारीपन को दूर करने के लिए चन्दन की शीतलता का प्रयोग किया जाता है। इस कारण वे अपने पूरे ललाट पर चन्दन लगाए रखना पसन्द करते हैं। ध्यान में प्रवेश करते वक्त इस स्थल पर ऊर्जा के एकत्रीकरण से कभी–कभी हल्की पीड़ा का भी अनुभव होता है। चन्दन मस्तक को शीतलता प्रदान करता है जिससे व्यक्ति शान्ति का अनुभव करता है। मस्तक पर तिलक धारण करने का एक कारण यह भी है कि व्यक्ति शान्ति का अनुभव करते हुए अपने सभी कार्यों का सम्पादन करे। वह मस्तक को सदैव शान्त रखे। वह ठण्डे दिमाग से अपने निर्णयों को ले सके। इस प्रकार गृहस्थों के लिए, साधकों के लिए और साधुओं के लिए सभी के लिए तिलक की उपयोगिता अलग–अलग है और सभी के लिए इसमें सन्देश व अर्थ छुपे हैं।

❖❖❖

हनुमान

हनुमान भक्तिमार्ग के आचार्य हैं, वे भक्त शिरोमणि हैं। भक्ति अर्थात् सत्य से जुड़ने का प्रयास, सत्य को जानने समझने और उसे पाने की अभीप्सा। हनुमान ने ही भक्त व भगवान के बीच के सम्बन्धों को न सिर्फ स्वयं अनुभव किया अपितु उसे समस्त जग के सम्मुख प्रस्तुत किया। हनुमान ने भक्ति मार्ग को स्थापित किया। जिसप्रकार एक गुरू एक योग्य शिष्य के बिना अधूरा है। ठीक उसी

प्रकार भगवान भी एक समर्पित भक्त के लिए लालायित होते हैं। निष्काम भक्ति अर्थात् माया से सम्बन्ध कमजोर करने व सत्य से सम्बन्ध प्रगाढ़ करने की इच्छा। भक्ति अर्थात् सिद्धि के प्रति समर्पण। हनुमान ने इस तथ्य को स्थापित किया है कि शारीरिक बल संसारिक जगत के लिए उपयोगी हो सकता है परन्तु भक्ति आन्तरिक बल है। सत्य से योग, शारीरिक बल को एक उचित दिशा प्रदान करता है।

श्रीराम ने यदि गुणों का चरम स्थापित किया तो महावीर हनुमान ने भक्ति का। राम गुणों का चरम हैं और हनुमान गुणों के पार जाने की अभिलाषा। राम यदि सत्य हैं तो हनुमान सत्य के संगी। एक वास्तविक सतसंगी। राम यदि सत्य हैं तो हनुमान उसके पारखी। हनुमान ने ही राम के वास्तविक स्वरूप को पहचाना। हनुमान के माध्यम से विश्व भर ने राम को जाना। ये जोड़ी अद्वितीय है। जहाँ भगवान भी हैं, भक्त भी। भक्ति भी और सत्य भी है। सत्य का पालक भी और सत्य से जुड़ने की प्यास भी। यहाँ पर अहंकारहीनता भी है और समर्पण भी। महावीर हनुमान की निष्काम उपासना निश्चय ही भक्ति प्रदान करती है। जो आपको सत्य की ओर ले जायेगी।

भक्ति ही भक्त को पूर्णता प्रदान करती है। यह बताती है कि इसी मार्ग पर चलकर यदि किसी ने सत्य प्राप्त किया तो आगे आने वाले यात्री भी निश्चय ही इस मार्ग पर चल कर सत्य को प्राप्त कर सकते हैं। सत्य के प्रति अपनी इसी प्यास और अपने प्रयासों के कारण हनुमान पूज्य हैं।

संस्कारों का अर्थ

एक बच्चे के जन्म लेने के पश्चात् उसके माँ–बाप, उसका परिवार, समाज जो कुछ भी उसे सिखाते हैं, वे सभी संस्कार की परिसीमा में आते हैं। एक बच्चा अपने आसपास घट रही घटनाओं को देखता रहता है। उनका अवलोकन करता है और उस ओर जो प्रतिक्रिया देता है वह उसका सहज स्वभाव है। परन्तु समय बीतने के साथ–साथ समाज उसे बिलकुल दूसरा रूप दे देता है। जन्म के समय वह कोई नहीं है। वह मात्र उपस्थित है। उसका कोई नाम नहीं, कोई जाति नहीं, कोई गोत्र नहीं, कोई संप्रदाय नहीं, कोई धर्म नहीं, कोई राष्ट्रीयता नहीं, कोई पहचान नहीं। परन्तु धीरे–धीरे उसे उसकी पहचान बतायी जाती है। उसे उसकी सोच भी दे दी जाती है। वह स्वतंत्र रूप से सोच भी नहीं सकता। एक विशेष परिस्थिति में कैसी प्रतिक्रियाएँ करनी हैं यह भी वह देखकर ही सीखता है। बचपन में उसकी प्रतिक्रयाएँ उसके स्वभाव को दर्शाती हैं। बाद में वे प्रतिक्रियाएँ संस्कारित हो जाती हैं। बच्चा अपना धर्म, अपने परिवार की विचारधारा, अपने समाज की सोच को आत्मसात कर लेता है। तत्पश्चात् वह वैसा ही सोचता है जैसा उसके परिवार, उसके धर्म और उसके समाज ने उसे सिखाया है। यही संस्कार है। उसकी मौलिकता कहीं खो जाती है। ईश्वर ने जो उसे मूल स्वरूप देकर भेजा उसे हम परिवर्तित कर देते हैं। उसे एक नई पहचान दे देते हैं। जिस पहचान को लेकर वह पूरी जिन्दगी व्यतीत करता है, उसी पहचान को सजाने–संवारने में, गिराने–उठाने में उसका पूरा जीवन बीत जाता है। अर्थात् कृत्रिमता के इर्द–गिर्द, जीवन का ताना–बाना बुनते–बुनते मनुष्य उसी से आवृत्त हो जाता है। बचपन में उसका जो मूल स्वभाव था, उसे भी वह जान नहीं पाता। वह स्वयं को ही भूल चुका होता है। अब वह वही है, जो उसको बताया गया है। इस प्रकार उसके चित्त पर विभिन्न संस्कारों की

परतें चढ़ती जाती हैं। उसका वास्तविक स्वरूप उन परतों के अन्दर छुपा होता है। इस बाहरी आवरण को व्यक्ति अपना व्यक्तित्व मानने लगता है। जब तक वह इन संस्कारों की परतों को साफ न करेगा, अपने मूल स्वरूप और स्वभाव से परिचित न हो पायेगा। उसे जो कुछ भी सिखाया गया, बताया गया, बनाया गया उन सभी संस्कारों और इसकी परिणति उसके व्यक्तित्व के रूप में होती है। इस पहचान से दूर जाने पर वह अपने मूल स्वभाव में लौट सकता है। इसी को स्वयं की खोज कहते हैं। स्वयं की खोज का प्रारम्भ संस्कारों की परतों के टूटने से ही होता है। हम ऐसा क्यों कहते हैं कि बच्चे भगवान का रूप होते हैं? क्योंकि वह वैसे ही हैं जैसा उन्हें भगवान ने भेजा। उनके ऊपर अपने अहंकार की, व्यक्तित्व की, विचारों की परतें अभी जमा नहीं हुईं। अभी उनका, न कोई अपना है न पराया। न उसे किसी से प्रेम है न ही किसी से द्वेष। वह तटस्थ है। वह हर एक जाति धर्म के व्यक्ति के पास उतनी ही सहजता से जायेगा जितनी कि वह अपने जाति–धर्म के व्यक्तियों के पास। उसका कोई अपना नहीं, कोई पराया भी नहीं। इसी कारण वह ईश्वर के इतना नजदीक है। उसका कोई मान नहीं, कोई अभिमान नहीं और उसमें उसकी रूचि भी नहीं। उसके पास बुद्धि भी नहीं। बुद्धि न भी हो तो काम चलेगा क्योंकि बुद्धि के पार जाकर ही ईश्वर को समझने का, उसके स्वभाव को जानने का मौका मिलेगा। बच्चे के पास बुद्धि नहीं होती है परन्तु वह फिर भी ईश्वर के ज्यादा नजदीक है। उसका मन साफ है। अभी वह अपने विचारों का बन्धक नहीं है। वह पूर्ण स्वतंत्र है और इसी स्वतंत्रता को वह अपने आगामी जीवन में ढूँढता रहता है।

❖❖❖

शिव के गर्भगृह में प्रवेश

एक मात्र शिव ही हैं जो आपको गर्भ गृह में प्रवेश करने से रोकते नहीं बल्कि वो आपको निमंत्रित करते हैं कि आओ मेरे नजदीक आकर बैठो। मुझे छुओ, मुझे ध्यान से देखो क्योंकि मैं सत्य हूँ तो शायद मुझे देखने से तुम्हें कुछ संकेत प्राप्त हो जाये। जबकि अन्य देवी-देवताओं के गर्भगृह में प्रवेश वर्जित है परन्तु शिव ने ये बन्धन कभी न रखा। कोई भी, कहीं भी, किसी भी स्वरूप में, शुद्ध या अशुद्ध, सामान्य या असामान्य, ज्ञानी या पापी कोई भी समान रूप से शिव के पास जा सकता है। शिव का संदेश हर एक प्राणी के लिए उपलब्ध है। आप उन्हें छू सकते हैं, महसूस कर सकते है और इसी स्वभाव के कारण शिव को 'भोले' कहा गया।

आप शिव के सामने बैठकर पूजा, अर्चना, अभिषेक सभी कुछ कर सकते हैं। किसी को मनाही नहीं, कोई आपको रोकता नहीं क्योंकि स्वयं शिव ने आपको कभी रोका नहीं। गर्भगृह में प्रवेश देने का मन्तव्य बस इतना है कि तुम भी सत्य को जानने का प्रयास करो। अपने जीवन को यूँ ही, अपने कर्मों व कर्तव्यों में उलझे रह कर व्यर्थ न करो। जो दृष्टि के सामने है उसे पाने का प्रयास तो करोगे ही परन्तु जो दृष्टि के पार है, उसे भी जानने का प्रयास करो। उसकी भी सम्भावना तुम्हारे अन्दर उपलब्ध है तथा हर एक व्यक्ति के पास उपलब्ध है। उन सम्भावनाओं को टटोलो, उस मार्ग को खोलने का प्रयास करो। न समझ में आये तो मेरे पास आकर बैठो, मेरी तरफ देखो। कदाचित् शिवलिंग को देखने से कुछ समझ में आ जाये क्योंकि शिव ने सृष्टि के रहस्य से लेकर मनुष्य के जीवन के परम लक्ष्यों को शिवलिंग में उतार दिया है।

आप अपने कई प्रश्नों के उत्तर सिर्फ शिवलिंग की तरफ देखकर, उसका अवलोकन कर प्राप्त कर सकते है। उसकी मात्र पूजा ही नहीं, उससे कुछ प्राप्त भी कीजिए, बहुत कुछ है शिवलिंग के पास, आपको देने लायक परन्तु देर आप ही की तरफ से है। शिव को ही सुन्दर कहा गया। इस सुन्दरता का एक कारण यह भी है कि उन्होंने सत्य को बहुत ही स्पष्ट संकेतों द्वारा व्यक्त किया। उन्होंने कुछ भी छुपाने का प्रयास नहीं किया। हर एक व्यक्ति जिसने शिवलिंग को देखा हो, उसके पास सृष्टि के रहस्यों को जानने का अधिकार उपलब्ध है। बस वह अपने अधिकारों का प्रयोग करे। उसका दिमाग जो माया सम्बन्धित विचारों में उलझा हुआ है उसे छोड़कर गर्भगृह में प्रवेश करे और शिव द्वारा हर पल प्रतिक्षण दिए जा रहे संकेत को समझने का प्रयास करे। इसी कारण शिव चाहते हैं कि आप उनके बिल्कुल नजदीक तक जाये और जीवन की समझ विकसित करें।

❖❖❖

जीवन का पूर्वार्द्ध

पूर्वार्द्ध अर्थात् पहला आधा भाग। एक सत्तर वर्ष जीवन की कल्पना करें तो जीवन के प्रथम पैंतीस वर्ष जीवन के पूर्वार्द्ध माने जायेंगे। व्यक्ति जीवन के प्रथम पैंतीस वर्ष में जो दो मुख्य कार्य करता है, वह है– विद्या प्राप्त करना व गृहस्थ जीवन में प्रवेश करना। अर्थात् व्यक्ति अपने पदार्थिक या सांसारिक जीवन के दो मुख्य क्रियाकलाप पूर्वार्द्ध में प्राप्त कर लेता है। इस दौरान उसमे माता–पिता, दादा–दादी अर्थात् परिवार व समाज के कई सदस्यों के प्रति मोह उत्पन्न होता

है। कामवासना आकार लेती है। वह शरीर के द्वारा सुख प्राप्त करना चाहता है। हर वह आकर्षण जो आँखो के सामने से गुजरे, वह उसमें रुचि प्रदर्शित करता है। वह जीवन के बहाव के साथ बहता हुआ चला जाता है। वह उन सभी अनुभवों को प्राप्त करना चाहता है जो उसके मित्र, समाज व उसके विचार उसे प्राप्त करने को कहते हैं। उसे परिणामों की विशेष फिक्र नहीं क्योंकि अभी अनुभव ही उसके लिए प्रधान हैं। वह प्रेम ढूँढता है। वह जानने का प्रयास करता है कि प्रेम वास्तव में है क्या? उसे हर एक वस्तु या शरीर में ढूँढने या पाने का प्रयास करता है। वह जीवन को पूर्णता व सम्पूर्णता से जीना चाहता है। उसकी ऐश्वर्य प्राप्ति में विशेष रूचि होती है। अभी तक जिन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए ऊर्जा लगाई वे सभी लक्ष्य समाज ने दिये थे।

पूर्वार्द्ध में व्यक्ति को अपने सभी पदार्थिक लक्ष्य व संतुष्टि प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए क्योंकि यही वह समय है जब उसका शरीर सबसे ज्यादा सक्रिय होता है और उसे पदार्थिक जगत को खोजने का अवसर प्रदान करता है। जीवन का पूर्वार्ध में व्यक्ति दुनिया को जानने, समझने, उसे पाने में व्यतीत करता है। यही वह समय है जब व्यक्ति जीवन के अच्छे–बुरे अनुभवों को प्राप्त करता है। व्यक्ति खुशी को व दुखों को भी इसी पूर्वार्ध में अनुभव करता है अर्थात् इस अवस्था तक व्यक्ति दुख व सुख दोनों से ही परिचित हो चुका होता है।

❖❖❖

जीवन का उत्तरार्द्ध

जीवन का पूर्वार्द्ध पदार्थिक जगत की सिद्धियों के लिए तो उत्तरार्द्ध चेतन अथवा सूक्ष्म जगत की सिद्धियों के लिए होता है। इसे पश्चिमार्ध न कहकर उत्तरार्द्ध कहा जाता है। उत्तरार्द्ध अर्थात् उत्तर दिशा की ओर। भारत के उत्तर में हिन्दुकुश से लेकर मिजोरम तक हिमालय के पहाड़ हैं। हिमालय सदियों से सत्यानवेषियों, ऋषि–मुनियों के लिए साधना स्थल रहा है। हिमालय के एकांत में बिना किसी बाधा के वे स्वयं से जुड़ने का प्रयास करते हैं। जीवन के उत्तरार्द्ध में स्वयं में छुपे, उस सत्य की खोज में अपनी सारी ऊर्जा लगा देनी चाहिए। पदार्थिक जगत के लक्ष्य– संतुष्टि प्राप्ति का समय अब पूरा हो चुका। अब वक्त है परमात्मा से जुड़ने का, उसे पाने का। जीवन सिर्फ सम्पत्ति, पदोन्नति, परिवार व सम्मान का नाम ही नहीं, यह सिद्धियाँ ढूँढने का अवसर भी है। यह एक मात्र अवसर है, जब आप अपने कर्मों को क्रिया में परिवर्तित कर संतृप्ति की ओर गमन कर सकते हैं। इसी कारण मनुष्य देह को अमूल्य व दुर्लभ कहा गया है। शास्त्रों में वर्णन है कि देवता भी मनुष्य देह को पाने का प्रयत्न करते हैं क्योंकि यही देह कर्म करने का अवसर उपलब्ध कराती है। कर्मों के द्वारा, अपनी ऊर्जाओं के समुचित उपयोग द्वारा आप पुनः अपने मूल स्वरूप में लौटने का प्रयास कर सकते हैं। याद रखिये मात्र तीस–चालीस वर्ष पूर्व आपकी उपस्थिति इस जगत में नहीं थी और आज से चालीस–पचास वर्ष के बाद भी आपकी उपस्थिति नहीं होगी परन्तु पृथ्वी कई अरब वर्षों से इसी स्वरूप में विद्यमान है। जो सामने दिखायी दे, उसी को सत्य मत समझ लीजिए। उसे भी ढूँढने का प्रयास कीजिए जो दिखाई नहीं देता है, परन्तु सदैव से उपलब्ध है, सत्य ही विस्तृत है। जिस प्रकार जीवन में आप प्रगति कर सफलता हासिल करते हैं, ठीक उसी प्रकार आप सत्य को पाने का भी प्रयास करते हैं। प्रकृति सत्य का वह भाग है जो दृश्य है। सृष्टि परम सत्य तक पहुँचने का साधन है। इसी

कारण व्यक्ति का प्रयास होना चाहिए कि जीवन का दूसरा आधा भाग प्रकृति के सान्निध्य में सत्य की खोज करते बीते, जीवन के छुपे सत्य की खोज के प्रयास में बीते। ध्यान रखने योग्य बात है कि पैंतीस वर्ष की आयु पूर्ण करने पर बुद्ध को ज्ञान की प्राप्ति हुई। मदर टेरेसा को 36 वर्ष की आयु में जीवन का लक्ष्य प्राप्त हुआ। अर्थात् यही वह वक्त होता है जब आप ईश्वर की ओर अपनी यात्रा प्रारम्भ कर सकते हैं। इस अवसर से चूकना उचित नहीं होगा।

❖❖❖

तपस्या

तपस्या अर्थात् तपाना स्याह को, स्याह अर्थात् अंधकार।

इस प्रक्रिया में शक्ति ईंधन का कार्य करती है अर्थात् अपनी ही शक्ति का उपयोग अपने शुद्धिकरण हेतु। तपाना इसलिए ताकि अयस्क से धातु प्राप्त की जा सके, सोने में से कुंदन को पाया जा सके। स्वयं को शुद्धतम स्वरूप में प्राप्त कर लेना ही तपस्या का उद्देश्य है।

तपाना खुद को ताकि मन हमारी ऊर्जा का उपयोग हमारे ही विरुद्ध करने में समर्थ न हो सके। तपस्या का लक्ष्य है अपना नियंत्रण अपने ही हाथ में लेने का प्रयास। तपाना इसलिए ताकि अपनी खोज की जा सके। तपाना इसलिए क्योंकि अग्नि में अशुद्धियों को शुद्ध करने की शाश्वत क्षमता है। यह सभी पदार्थिक अशुद्धियों को प्रकाश में परिवर्तित करने की क्षमता रखती है। स्वतंत्रता चेतना का मूल स्वभाव है, अतः मन के साथ इसके गठबंधन को

ढीला करने के लिए मन को जला कर उसे शुद्ध करना ही तपस्या है। चेतना जब मन की स्वच्छंद वृत्तियों से विमुख होकर उसके बंधन से मुक्त होती है तब अपने सहज स्वभाव को प्राप्त हो जाती है। सहजता अपूर्व संतोष और असीम आनंद प्रदान करने वाली है।

तपस्वी = तप + स्व + ई (जो अपनी शक्ति का उपयोग स्वयं को तपाने में करे)।

कुम्हार और आग मिलकर, कच्ची मिट्टी को सुंदर और उपयोगी बर्तनों में बदल देते हैं। मृत्यु के पश्चात् अग्नि शरीर रूपी भ्रम को जलाकर उसे वातावरण में बिखेर देती है। योगी तपने के लिए मृत्यु की प्रतीक्षा नहीं करता, वह जीवित अवस्था में ही अपनी आंतरिक अग्नि को ईंधन देता है और भोगी जीवित अवस्था में तपने से बचता रहता है। इसी कारण वह समय के साथ और प्रदूषित होता जाता है।

अग्नि का प्रयोग अंत समय में या तो शरीर रूपी भ्रम को जलाने के लिए किया जाए या फिर इसका उपयोग हम अपनी अशुद्धियों को जलाने में करें।

❖❖❖

तपस्या हिमालय में क्यों?

हिमालय प्रकृति का आश्रय स्थल है। यह प्रकृति हेतु पिता समान है जहाँ पर प्रकृति को पिता का संरक्षण प्राप्त है। हिमालय की दुर्गम स्थिति प्रकृति को पालन–पोषण व विस्तार करने का पूर्ण अवसर प्रदान करती है। यहाँ पर माया का दखल नहीं क्योंकि माया को इस स्थल में कोई विशेष रूचि नहीं। इस स्थल को जैसे सत्य ने प्रकृति के लिए आरक्षित कर दिया है। जिसप्रकार एक पिता अपने बच्चों को संरक्षण प्रदान करता है, ठीक उसीप्रकार हिमालय भी प्रकृति को पूर्ण अवसर प्रदान करता है। हिमालय के संरक्षण में प्रकृति स्वतंत्र होकर वह कार्य करती है जिसके लिए प्रकृति जानी जाती है, अर्थात् प्रजनन व पालन–पोषण। हिमालय एकांत का सुअवसर प्रदान करता है। भीड़भाड़ से दूर, शोरगुल से दूर वह स्थल जहाँ आप स्वयं के साथ बैठ सकें। अपने भीतर छुपे उस प्रकाश को स्वतंत्र करने का प्रयत्न कर सकें, योग प्राप्ति कर सके। हजारों सालों से सत्यानवेषियों ने सत्य प्राप्ति हेतु स्वयं की आहुति दी है। सत्य की खोज हेतु उन्होंने हिमालय की शरण ली है और हिमालय ने अपनी कन्दराओं को उनके लिए आरक्षित कर दिया। जिसप्रकार वह प्रकृति को संरक्षण प्रदान करता है, ठीक उसीप्रकार उसने इन सत्यान्वेषियों को भी सदैव ही आश्रय प्रदान किया है। यह वह स्थल है जहाँ माया आपको परेशान नहीं करेगी परन्तु आपको अपने विचारों से लड़ना होगा। आपका युद्ध अपने विचारों से दूर जाने का होगा क्योंकि विचार ही आपको माया से जोड़ने हेतु सूत्र का कार्य करते हैं।

ध्यान

ध्यान में अपने शरीर के होने का भाव क्षीण हो जाता है तथा निर्गुण निराकार शून्य से एकात्मकता का भाव होता है। उस तल पर विचारों का अभाव हो जाता है। विचारों का अभाव होने से शून्यता की स्थिति प्राप्त होती है। आपके द्वार आनन्द के लिए खुल जाते हैं, मस्तिष्क विश्रान्ति में चला जाता है और आपके कदम बढ़ जाते हैं, अज्ञेय की तरफ। स्वयं के खोजने के प्रयास में, पहले उन विचारों से मुक्ति पा लेना आवश्यक है जो विचार आपके नहीं है। जो विचार आपको बाहर से दिये गए, जो सोच आपके लिए बना कर दे दी गई, आपको उन्हीं विचारों को अपनी कसौटी पर कसना होगा। उस कसौटी पर कसने के बाद कुछ विचारों को आप स्वीकार तो कर लेंगे परन्तु कुछ विचार रद्दी की टोकरी की तरफ चले जायेंगे, क्योंकि उनका उचित स्थान वही है। स्वीकारणीय विचार रख ले और वे विचार जिनकी अब कोई प्रासंगिकता नहीं रह गई उन्हें त्याग दें परन्तु इस कार्य के लिए कसौटी को तैयार करना होगा।

अपनी कसौटी को तैयार करने के लिए ध्यान में उतरें, स्वयं को पूर्व निर्धारित विचारों से अलग कर लेना ही उचित है। आपको उन विचारों के अधीन रहने की आवश्यकता नहीं हैं जो आपके है ही नहीं। यह आन्तरिक सफाई का काम है। सबसे पहले घर को साफ कर लेना चाहिए। अत: प्रारम्भ यही से हो। वे सभी विचार जो समाज, परिवार, धर्म या कहीं और से आये, पहले उन्हें अपनी कसौटी पर कसिए। सिर्फ उन्हीं बातों को स्वीकार कीजिए, जो उचित है। अनुचित बातों को स्वीकार करने के लिए आप बाध्य नहीं है।

ध्यान लौकिक व पारलौकिक जगत के बीच सेतु का कार्य करता है। ध्यान पारलौकिक जगत से परिचय करवाता है। अत: ध्यान के प्रयोग, व उनमें उतरना सुंदर होगा।

जिस प्रकार हवा से भरी गेंद समुद्र के पानी पर तैरती रहती है, जब तक वह भीतर से हवा से भरी है। पानी यदि उसके भीतर प्रविष्ट हो जाए, तो वह समुद्र में समा जाएगी, क्योंकि अब वह भारी हो चुकी है। ठीक उसी प्रकार ध्यान से भरा मनुष्य इन विचारों द्वारा निर्मित लौकिक जगत के समुद्र में, बिना डूबे तैरता रहता है। समुद्र के बीच रहकर भी समुद्र से अलग। यदि वह विचारों को स्वयं में स्थान दें दे तो धीरे-धीरे भारी होकर वह उसी लौकिक जगत में समा जाएगा। अत: अपने भीतर भर रहे, विचार रूपी पानी को बाहर निकालते रहना जरूरी है।

ध्यान में मन व बुद्धि को विराम देकर, चेतना को इनके प्रभाव से मुक्त कर दिया जाता है। जिससे चेतना आत्मा से सम्बन्ध प्रगाढ़ कर सके। इस प्रकार जीव मन और बुद्धि पर नियंत्रण रखना सीखता है।

ध्यान किया नहीं जा सकता, ध्यान में उतरा जा सकता है, ध्यान अर्थात् स्वयं में उतरना, स्वयं में उतरना तभी संभव होगा, जब भीतर जगह होगी इसलिए ध्यान से पहले भीतर की सफाई कीजिये, अंतस खाली कीजिये। भीतर जगह बनाइये, अंदर उपस्थित कचरे को बाहर फेंकिये। प्राणायाम इसमें सहायक है। आंतरिक सफाई के बाद भीतर उतरना ज्यादा सहज होगा।

मंदिर क्यों?

मन्दिर इस तथ्य का ज्ञान कराते हैं कि देवताओं में जो विभिन्न गुण व्याप्त हैं, वे सभी गुण तुम्हारे भीतर भी स्थित हैं। उतनी ही मात्रा में जितनी तुम बाहर देख और समझ सकते हो या जितनी तुम्हारी सोच पहुँच पाती है। हर वह प्रतीक जो तुम मन्दिर में देखते हो, रहस्य जो इस मन्दिर में छिपा है, वे गुण जो देवताओं में विद्यमान हैं, तुम्हें अपने भीतर मिल ही जाएंगे। हर रहस्य का स्पष्टीकरण तुम्हें अपने भीतर मिल जाएगा। बाहर जो तुम देख रहे हो, उसे अपने भीतर भी तलाश कर के देख लो, ऐसा करते हुए तुम देवताओं से भगवान तक पहुँच जाओगे। अपने भीतर भी तुम गुणों से होते हुए निर्गुणता को प्राप्त कर सकते हो, क्योंकि तुम्हारा केन्द्र तो निर्गुण ही है। बस तुम्हे इस तथ्य का पता नहीं है। शायद अभी तुमने उस केन्द्र की ओर यात्रा प्रारम्भ नहीं की है और यदि की है तो वह अभी चल रही है। यह भी जान और समझ लो कि हर वो चीज जो तुम बाहर देखोगे उसकी प्रतिध्वनि, उसका उत्तर, उसका स्पष्टीकरण अपने भीतर ही तलाश लोगे।

किसी मंदिर के गर्भगृह के ऊपर स्थित गुम्बद को जरा ध्यान से देखिए, नीचे की ओर उसके चार कोने होते हैं और ऊपर उठते वक्त यह सकरा होते-होते ऊपर पहुँचकर एक बिन्दु पर जाकर समाप्त हो जाता है। यह गुम्बद प्राणियों के मनुष्य योनि प्रवेश से लेकर उसके चरम तक पहुँचने की यात्रा को प्रदर्शित करता है, यह मूलाधार से लेकर सहस्त्रार की यात्रा का द्योतक है। जब हमारी ऊर्जा मूलाधार पर होती है, तो यह चारों दिशाओं में खर्च होती है, इसका कोई उद्देश्य नहीं, मात्र आवश्यकता की पूर्ति और फिर कामनाओं की पूर्ति में यह उपयोग में लाई जाती है। मन हर दिशा में इसे परावर्तित कर भेज दिया करता है, ताकि यह संघनित न हो पाए, एक जुट न हो पाए और मनुष्य इस अथाह ऊर्जा का कोई उत्पादक उपयोग नहीं कर पाता। ऊपर की ओर बढ़ते हुए धीरे-धीरे वह इसी ऊर्जा का

उपयोग स्वयं को स्थापित करने में करता है। अपना नाम, अपना काम, अपना प्रभाव, क्योंकि उसे यह लगता है कि वह एक स्वतंत्र इकाई है और इस इकाई को पहचाना जाना चाहिए। समाज को इसे मान्यता देनी चाहिए और वह इसी कारण आवश्यकताओं के साथ-साथ आडंबर में भी खर्च किया करता है। धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठते हुए, वह अपनी बुद्धि का समुचित उपयोग करते हुए, ईश्वर व दिव्यता में अपनी जिज्ञासा व्यक्त करता है और धीरे-धीरे एक दिन वह सृष्टि व प्रकृति के साथ एक ही लय में आ जाता है। वह प्रकृति के रहस्यों को जानना प्रारंभ करता है और उसके अनुसार अपना जीवन भी ढाल लिया करता है।

अब ऊर्जा चारों दिशाओं में नहीं बल्कि घनीभूत होकर एक विशिष्ट दिशा की ओर मुड़ जाती है और अंततः सहस्त्रार के माध्यम से यह ब्रह्माण्ड में विलीन हो जाती है।

मंदिरों में गुम्बद नीचे से चौकोर होते हैं। ऊपर उठते हुए वे तिकोने होते चले जाते हैं और सबसे ऊपर पहुँचकर एक बिन्दु पर आकर समाप्त हो जाते हैं। यह ठीक हमारे जीवन के समान है। आधार तल पर बहुत बिखराव होता है। हमारा कोई न कोई भाग चारों दिशाओं में कार्य करता रहता है। हमारा दिमाग चारों ओर जाता रहता है। हमारी ऊर्जा सभी ओर लगती है। धीरे-धीरे व्यक्ति जब अपने भीतर ही ऊपर उठता चला जाता है तो वह अपने बिखराब को समेटना शुरु करता है। अपनी ऊर्जाओं को समेटकर, उन्हें केन्द्रीभूत करने की कोशिश करता है और ऊपर, सबसे ऊपर बिन्दु पर पहुँचकर स्वयं को पूर्णतया संघनित कर लेता है। अब वह चारों दिशाओं में नहीं, क्षैतिज दिशाओं में नहीं अपितु ऊर्ध्व दिशा में एक बिन्दु पर ही सिमट आता है। अर्थात् ऊपर उठते हुए धीरे-धीरे वह अपने अहंकार और अधिकार को छोड़ता चला जाता है और स्वयं के होने में ही संतुष्ट हो जाता है। ठीक वैसा ही जैसे कोई नया बच्चा। इस प्रकार वह बच्चे से फिर बच्चे हो जाने का, अपना चक्र पूर्ण करता है। इस प्रकार वह प्रकृति से पुनः प्रकृति तक पहुँचने का अपना चक्र पूर्ण करता है।

साधु

साधु = साध + ऊर्जा

जो शरीर को प्राप्त ऊर्जा द्वारा स्वयं को साधे। जो यह जाने कि जीवन एक खोज है और वह उसी खोज पर निकला है। इसी कारण वह मन द्वारा साध्य न होकर साधु हो जाता है। साधु ऊर्जा के इन प्रयोगों द्वारा रहस्यमयी जगत की ओर बढ़ता है, जो मन और मनुष्यों की पहुँच से परे है।

मनुष्य पदार्थों के साथ प्रयोग करता है और साधु ऊर्जा के साथ। मनुष्य की पहुँच सीमित है क्योंकि ब्रह्माण्ड में पदार्थ का भाग **.01** प्रतिशत से भी अति कम है और साधु शेष **99.99** प्रतिशत तक पहुँच कर उससे सम्बन्ध जोड़ना चाहता है।

जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी और पानी के मेल से बर्तन बनाता है वैसे ही मनुष्य तत्व और सूर्य की ऊर्जा के मेल से अपनी यह दुनिया बनाता है। कुम्हार का बर्तन और मनुष्य की दुनिया दोनों ही शाश्वत नहीं हैं। साधु इस बात को जानता है इसी कारण ब्रह्माण्ड के उस भाग से जुड़ना चाहता है जो शाश्वत है।

मनुष्य खुशी व संतुष्टि ढूँढ रहा है और साधु संतृप्ति। मनुष्य बाहर ढूँढ रहा है, साधु भीतर। मनुष्य गुणों में ढूँढ रहा है मगर साधु निर्गुणता में। मनुष्य प्रत्यक्ष को पाना चाहता है और साधु अप्रत्यक्ष को। मनुष्य मन के इस पार ढूँढ रहा है और साधु उस पार। मनुष्य सम्बन्धों में ढूँढ रहा है और साधु सभी बंधनों से परे। मनुष्य खुद को छोड़कर सब कुछ जानता है और साधु उसी खुद को जानना चाहता है।

❖❖❖

साधु मौन व एकाकी क्यों?

साधु मौन व एकाकी होता है क्योंकि ऊर्जा सम्बन्धी अपने प्रयोगों में वह, बाह्य जगत में खर्च की जाने वाली अपनी ऊर्जा को बचाकर, उसे आंतरिक जगत की ओर मोड़ने का प्रयोग करता है। इस दशा में अपनी ऊर्जा के साथ वह अपने मन की वृत्तियों को भी भीतर की ओर मोड़ने का प्रयास करता है। ऐसा इसलिए क्योंकि जो भी ऊर्जा वह खर्च करता है, वह मन द्वारा दी गई उत्तेजना के कारण ही है। इसी कारण वह बाह्य जगत से शब्दों द्वारा बने सम्बन्ध को सीमित कर लेता है।

साधु अपने अस्तित्व के उस हिस्से को खोज रहा है जो कहीं खो गया है। जब तक वह भीड़ में था, अपने इस भाग से कभी परिचित न हो पाया। इसी कारण वह अपने ही भाग को एकांत में ढूँढता है। मौन अर्थात् जब मन को ऊर्जा न प्राप्त हो रही हो। शब्दों की शांति और मन की भी शांति। साधु कैवल्य की यात्रा पर है। कैवल्य अर्थात् केवल वह। यह यात्रा हर एक व्यक्ति की नितांत अपनी यात्रा है, जिसे वह एकांत में ही तय करता है। इस यात्रा पर वह इतना अकेला है कि अपने मन को भी साथ नहीं ले जाता। मन के साथ यह यात्रा नहीं की जा सकती क्योंकि मन को इस यात्रा पर जाने में कोई रुचि नहीं। मन न स्वयं जाता है और न साधु को ही इस यात्रा पर जाने देना चाहता है। इसी कारण इस यात्रा के पूरे रास्ते में वह अपने ही मन से द्वन्द्व में उलझा रहता है। जब साधु अपने ही मन से द्वन्द्व में उलझा है, तो दूसरों के मन को वह, स्वयं को अस्थिर करने की स्वतंत्रता क्यों देना चाहेगा? यही कारण है कि वह मौन रहता है।

उसकी यह यात्रा भूँसे के संदूक में सूई ढूँढने की है। वह अपने अस्तित्व के उस भाग को ढूँढने निकला है, जो शाश्वत है। जिसका नाश नहीं होता और इसके लिए वह अपनी पूरी शक्ति को एकत्र कर, अपनी साधना पर केन्द्रित करने का प्रयास करता है। यह उसके अपने अस्तित्व तक की यात्रा है, जो पूर्ण एकांत में ही सम्भव है।

❖❖❖

संत

संत अर्थात् संतृप्त। वह साधु जिसके जड़ तत्व (मन, बुद्धि व अहंकार) अब संतृप्त हो चले हों। चेतना रूपी जल अब, चैतन्य रूपी चीनी से संतृप्त हो चला हो।

जब एक प्यासे को मन भर पानी मिल जाए तो एक स्तर के बाद वह और पानी नहीं पी पाता। इसी प्रकार संत वह है जिसके मन में कामनाओं की और अधिक मात्रा न घोली जा सके। इसप्रकार जो ऊर्जा कामना रुपी चीनी खरीदने हेतु धन जुटाने और उसे प्राप्त कर मन रुपी जल में घोलने को प्रयुक्त हो रही थी, अब वह शक्ति स्वतंत्र है। इस दशा में शक्ति, चेतना के उर्ध्व गमन में प्रयुक्त की जा सकती है।

संत वह है जिसका अपनी शक्तियों पर अब अधिकार हो चला हो। जिसका उपयोग वह परमात्मा की ओर गमन में कर सकता है। यह ठीक उसी प्रकार से है जैसे पम्प में पर्याप्त शक्ति होने पर ही वह भूमि के भीतर से पानी खींचकर, सबसे ऊपरी तल पर स्थित टंकी तक पानी पहुँचा सकता है। संत इसी प्रकार अपनी शक्ति को बढ़ाकर जीवन के सत्य की ओर यात्रा पूर्ण करते हैं। संतुष्टि व संतृप्ति में अंतर है। संतुष्टि बाहर की घटनाओं का अंतस पर प्रभाव है। यह बाहर से भीतर की ओर आती है। संतृप्ति का उदय भीतर ही होता है। संतुष्टि संतृप्ति हेतु आवश्यक है।

संतृप्ति का तात्पर्य है शरीर के भीतर स्थित शक्ति का संतृप्त हो जाना और यह अवस्था तभी संभव है जब शक्ति का शिव से मिलन हो। जिस प्रकार भूख भोजन के बिना शान्त नहीं होती वैसे ही शक्ति शिव के बिना शान्त नहीं होती। शरीर में स्थित इन दोनों ध्रुवों का जब तक मिलन न हो, तब तक जीव असंतृप्त रहता है।

असंतृप्ति ही बार–बार जीवन लेने का कारण है। साधु अपने जिस भाग को खोज रहा है संत ने उस भाग को पा लिया है।

महात्मा

मह + आत्मा। अर्थात् मैं आत्मा हूँ। आत्मा ही ब्रह्म है। इसी तथ्य को संस्कृत में कहा गया अहं ब्रह्मास्मि। जिस प्रकार संतृप्ति पायी जाती है, मानी नहीं जाती, उसी प्रकार यह तथ्य कि ''मैं एक आत्मा हूँ'' जाना जाता है। जानना वहाँ से आता है, जहाँ से जान आती है, जहाँ से जन्म आता है। जहाँ से जीव आता है। मैं का हनन होने के बाद जो कुछ भी बचता है, वही आत्मा है। महात्मा संतृप्ति से आगे की अवस्था है। संतृप्ति प्राप्ति पर साधु जान जाता है कि वह कौन है। वह अपने चेतन स्वरूप को पहचान लेता है। चेतन स्वरूप को पहचानते ही उसके कर्तापन की समाप्ति हो जाती है। द्रष्टा भाव में स्थित हुआ संत अपने सभी कर्मों को ईश्वर को अर्पित कर अब उनके निमित्त कार्य को सम्पादित करने में जुट जाता है। अपने कर्मफल को दूसरों में बाँट देने में उन्हें प्रसन्नता प्राप्त होती है। अब वह सृष्टि में अपनी उपयोगिता जान जाता है। वह जान जाता है कि कौन से कार्य उसके माध्यम से सम्पादित होने हैं और इन्हीं कामों को पूर्ण करने में वह अपनी पूरी शक्ति लगा देना चाहता है।

संत की संतृप्ति व उसके पश्चात् उसके माध्यम से हुए कार्यों की परिणति है, उसका स्वयं को पूर्ण आत्मा के रूप में जान लेना। जब व्यक्ति स्वयं को आत्मा स्वरूप में जान लेता है तो वह स्वयं को परमात्मा में विलीन होने योग्य बना लेता है। महात्मा होना परमात्मा में विलीन होने के ठीक पहले की अवस्था है। परम तत्त्व में विलीन होने की घटना निर्वाण कहलाती है।

महात्मा द्वंद्व से पूर्णतया मुक्त है। सभी भ्रम पूर्णतः विलीन हो चुके। एक महात्मा का शेष जीवन वृक्ष जैसा है। स्वयं को आवश्यकतापूर्ति तक सीमित कर अपने गुणों के फल और संसाधनों को सभ्यता की ओर बढ़ा देना। अपने गुणों और गुणों से उत्पन्न फलों में पूर्णतः उदासीनता। जिस प्रकार एक वृक्ष सूर्य से प्राप्त ऊर्जा का उतना ही भाग स्वीकार करता है, जितना जीवन के लिए आवश्यक हो। शेष ऊर्जा को वह सभ्यता की ओर आगे बढ़ा देता है। लोगों के मध्य रहते हुए भी, आत्मा के आनन्द में मग्न, वह बाहरी जीवन से पूर्णतः कटा रहता है।

स्वामी

स्वामी = स्व + अमी। मैंने स्वयं को पा लिया। जो स्वयं को पहचान ले।

स्वामी अवस्था परिणति है, आत्म साक्षात्कार नामक घटना की। आत्म साक्षात्कार अर्थात् जब व्यक्ति का खुद से सामना हो जाए। जिस प्रक्रिया में व्यक्ति का सामना स्वयं से होता है और स्वयं से मिलते ही व्यक्तित्व गौण हो जाता है, आत्म साक्षात्कार कहलाता है।

हम सभी मानते हैं कि हम शरीर हैं। यह मानने का कारण है कि हमारा मन, परिवार और समाज सभी यही कहते हैं। जन्म लेने के दिन से हमे यह बताना प्रारंभ कर दिया जाता है। जीवनपर्यंत हर रोज हमें यही एहसास दिलाया जाता है कि हम शरीर हैं और हमारा यह नाम है। हमारा यह धर्म, यह जाति, यह गोत्र, यह गाँव, ये सम्बन्ध, ये परिवार है, ये देश, ये वर्ण, ये महाद्वीप इत्यादि है। इस प्रकार मानने की परिणति यह हे कि हमारा पूरा जीवन इन्हीं मान्यताओं को ढोते–ढोते बीत जाता है। हम कभी नहीं जान पाते कि हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है? वास्तव में हम कौन हैं? और जब तक हम यह नहीं जान पाते, तब तक हम पराधीन हैं। जब तक मन हमारा स्वामी है वह जो भी कहेगा, हमें वही करना होगा। मन का प्रभाव हम पर इतना व्यापक है कि हम कभी जान भी नहीं पाते कि मन से परे की कोई दुनिया है। मन की अनुपस्थिति में भी जीवन जिया जाता रहा है।

आत्म साक्षात्कार के प्रभाव को इस घटना से समझिए– जब राजा जनक को यह प्राप्त हुआ तब उन्होनें घोषणा की कि अब तक मैं अपने वास्तविक शत्रु को नहीं जान पाया था, अब मैंने इसे पहचान लिया है। अब मैं इस पर सीधा प्रहार करूँगा। इसी आंतरिक द्वंद्व में विजय का परिणाम था कि जनक विदेही कहलाए व कृष्ण ने गीता में जनक को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया।

स्वामी विवेकानन्द को रामेश्वरम में एक शिला पर बैठे हुए अपने जीवन के लक्ष्य का पता चला और तत्पश्चात् जीवन के अंत से पहले उन्होनें स्वयं को पहचान लिया। स्वामी ईश्वर के वे माध्यम हैं, जिनके द्वारा ईश्वर कई महत्वपूर्ण कार्यों को सम्पन्न किया करते हैं। विवेकानन्द इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

स्वामी वे निमित्त हैं, जिनका अपने मन से बंधन टूट गया और इस कारण उनकी शक्ति परमतत्व के उपयोग हेतु प्रस्तुत है।

श्रील प्रभुपाद ने इसी आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त कर वृद्धावस्था में इस्कॉन जैसे विश्वव्यापी संगठन को खड़ा कर दिया और लाखों, करोड़ों लोगों को कृष्ण व गीता से परिचित करवाया।

❖❖❖

सन्यासी

संतृप्ति का प्रयासी।

सन्यास = सं + य + आस। संतृप्ति ही यम प्राप्ति का आश्वासन देती है। यम हमारा ही वह सूक्ष्म भाग है जो अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय और ब्रह्मचर्य से बना है। यदि हम खुद पर जमी कामनाओं की परतों को हटा सकें तो केन्द्र पर यम प्राप्त होगा। यम व्यक्ति का वह भाग है जो सत्य के उतना ही निकट है जितना की प्रकृति। इस दशा में व्यक्ति स्वतः ही सत्य का विस्तार बन जाता है।

सन्यास मनुष्य जीवन का आखिरी आश्रय है। जीवनभर व्यक्ति मन के अहं को फैलने देता है। इस अवस्था में व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को विश्राम देता है। यह

पर्वत के शिखर पर चढ़कर घर वापस लौटने की यात्रा है। जन्म के समय बच्चा प्रकृति (गर्भ) से चारों ओर से घिरा होता है। प्रकृति के मध्य ही बच्चे को अगले जीवन हेतु तैयार किया जाता है। संन्यास आश्रम में व्यक्ति पुनः उसी प्रकृति के मध्य आ जाता है ताकि प्रकृति पुनः उसे तैयार कर सके।

सन्यास से पहले व्यक्ति अपनी संतुष्टि हेतु कार्य कर रहा था। सन्यास में वह अपनी संतृप्ति हेतु प्रयास करता है।

सन्यास में प्रवेश हेतु जीवन के आखिरी चरण की प्रतिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं। जीवन में जब कभी आप बाहरी जगत से संतुष्टि पा लें, भौतिक समृद्धि की इच्छा धीरे–धीरे कम होने लगे लेकिन लगे कि खोज अभी पूरी नहीं हुई। पूर्णता अभी प्राप्त नहीं हुई, कुछ है जो पाना बाकी है तो जान लीजिए कि आप संतृप्ति की तलाश में हैं। इस दशा में आप स्वयं को संन्यासी ही समझें।

यह आवश्यक नहीं कि साधु और फकीर जैसा दिखने वाला व्यक्ति संन्यासी ही हो और यह भी कदाचित संभव है कि सामान्य सा दिखने वाला व्यक्ति आंतरिक रूप से सन्यासी हो चुका हो। हर वह व्यक्ति जो अपने भीतर कुछ खोज रहा है, अंतस में उठते सवालों के जवाब ढूँढ रहा है, भ्रमित है और खोजी भी, वही है सन्यासी। जिसे अपने उत्तर जीवन से नहीं मिल रहे।

सन्यास यात्रा की शुरुआत भक्ति से ही हो जाती है। साथ ही साथ प्रेम, ज्ञान, योग, सेवा और विवेक से भी। सन्यास सांसारिक जीवन का चरम है और यही चरम पदार्थिक जीवन से प्रकाशिक जीवन के मध्य का द्वार भी खोलता है। यह दो लोकों के बीच का स्थल है। इस स्थल की समाप्ति पर स्थित द्वार तक वही पहुँच पाते हैं, जो इस लोक से उस लोक में छलांग लगाने को उत्सुक हों।

पूजा

पूजा = प + उजा। उजा से बना उजाला। उजाला (उज+आला) अर्थात् प्रकाश ही सर्वश्रेष्ठ है। पूजा अर्थात् पाना प्रकाश को।

पूजा की शुरुआत होती है मूर्तियों के सामने लेकिन वह पूर्ण तब होती है जब प्रकृति से हमारा सम्बन्ध पुनः स्थापित हो जाता है। ब्रह्माण्ड से हमारा सम्पर्क जुड़ने के लिए पहले प्रकृति से जुड़ना होगा। ब्रह्माण्ड से हमारा सम्पर्क तब टूट गया था, जब हम जीव रूप में इस पृथ्वी पर उपस्थित हुए। जब तक ब्रह्माण्ड से सम्पर्क पुनः स्थापित नहीं होगा, तब तक जीव रूप में हमारा चक्र पूरा नहीं होगा। जीव और ब्रह्माण्ड के बीच ही खाई को प्रकृति ही पुल बनाकर पाट सकती है। प्रकृति के माध्यम से ही हम ब्रह्माण्ड में वापस लौट सकते हैं।

जब ब्रह्माण्ड से हम पुनः जुड़ जाते हैं, तभी हमारा वास्तविक जन्म होता है। तब हमारे उस पक्ष का जन्म होता है जिससे हम पूर्णतः अनभिज्ञ थे। इस पक्ष के जन्म के बाद ही हमे अपने वास्तविक स्वरूप के दर्शन होते हैं। जिस प्रकार एक व्यक्ति स्पाइडरमैन के कपड़े पहनकर खुद को स्पाइडरमैन मानता रह सकता है। विशेषतः तब, जब ये कपड़े उसने जन्म से ही पहने हुए हों। और जब यह वस्त्र उतरता है, तभी मनुष्य पहचान सकता है कि वो स्पाइडरमैन नहीं था। वो था तो बस एक सामान्य मनुष्य, जो सभी की तरह सामान्य है।

उज अर्थात् ऊर्जा जो जन्म दे। बच्चे के पैदा होने को उसका जन्म न समझियेगा। पैदा होना तो मात्र उत्पत्ति है। गीता कहती है कि जीव का शरीर आकार लेता है, अन्न से। उत्पन्न शब्द शरीर के अन्न से आकार लेने को अभिव्यक्त करता है। जन्म तो तब होता है जब व्यक्ति की चेतना, मन के बन्धन से मुक्त हो जाती है। जन्म अर्थात् जो न 'मैं'। मैं अर्थात् मन। इस प्रकार के जन्म को ही ज्ञान प्राप्ति भी कहते हैं। श्रीकृष्ण कहते भी हैं कि जीव जब तक

स्वयं को चेतना रूप में नहीं जान जाता, तब तक वह भ्रमित है और जो भ्रमित है उसका अभी जन्म कहाँ हुआ। वह उत्पत्ति और नष्ट हो जाने के द्वन्द्व और दुख से पीड़ित है।

पूजा अर्थात् ईश्वर से यह प्रार्थना कि मुझे मेरे वास्तविक स्वरूप से परिचित कराओ। मेरे उज्ज्वल पक्ष का दर्शन कराओ। जब आप अपनी प्रार्थनाओं में ईश्वर से कुछ नहीं माँगते। आप उससे प्रेम करने में ही संतुष्ट हैं, तब वही प्रार्थना पूजा बन जाती है।

❖❖❖

कीर्तन

कीर्तन अर्थात् कीर्ति गान।

कीर्तन में मन अपने प्रेम का प्रदर्शन करता है जो उसे अपने इष्ट से है। कीर्तन दो प्रकार के हैं– सगुण व निर्गुण।

सगुण कीर्तन में ईश्वर व अवतार के जीवन चरित्र और लीलाओं की व्याख्या की जाती है। कीर्तन के माध्यम से भक्त, अन्य साधकों को अपने इष्ट के जीवनी के बारे में बताता है।

संगीत व वाद्य का उपयोग करने पर श्रोता भी कीर्तन में सम्मिलित हो सकते हैं। इस प्रकार एक ही समय में वे अपने इष्ट के बारे में जान भी सकते हें और कीर्तन द्वारा उनको याद भी कर सकते हैं। कीर्तन द्वारा आप अपने इष्ट के गुणों और उनकी असीम कीर्ति का प्रचार, सरलता और आनन्ददायक तरीके

से कर सकते हैं। कीर्तन के दौरान जब मन कीर्तन पर केन्द्रित रहता है तो मन में भावनाएँ क्षीण होती हैं। इस प्रकार साधक के भक्तिभाव में प्रवेश करने की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं। कीर्तन जानने, बताने व भाव में उतरने का साधन बन जाता है।

निर्गुण कीर्तन में गुणों की नहीं, ईश्वर के साधक के प्रति और साधक के ईश्वर के प्रति प्रेम और समर्पण की चर्चा होती है। निर्गुण कीर्तन भावनाओं के विरेचन का भी माध्यम बन जाता है। जब साधक प्रेम में डूबकर अपनी भावनाओं को बाहर निकलने का मार्ग देता है तो भावनाएँ अश्रु के माध्यम से शरीर से बाहर निकल जाती हैं। इसका प्रभाव साधक के मन पर पड़ता है। वह ज्यादा शांति और स्थिरता का अनुभव करता है। वे भावनाएँ जो सांसारिक जीवन में रहते हुए उसमें एकत्र होती जा रही थीं, जिनके निकलने का मार्ग न मिल रहा था। कीर्तन के माध्यम से वे मन को छोड़ देती हैं। जिससे भावनाओं के कारण शरीर पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव से मुक्ति मिलती है। भावनाओं के जाने के बाद व्यक्ति भाव में ज्यादा समग्रता से प्रवेश कर सकता है। इस दशा में कीर्तन ही ध्यान का माध्यम बन जाता है। इस प्रकार काम मन पर भी हुआ और चेतना पर भी।

कीर्तन गुरु और शिष्य, सधे हुए गायक और नए साधक सभी को एक सूत्र में जोड़ देता है। कीर्तन के चरम पर ऐसी परिस्थिति भी आती है जब हॉल या मंदिर में बैठे सभी व्यक्ति एक ही भाव के सागर में प्रविष्ट कर जाते हैं। स्त्री, पुरुष का भेद भी मिटने लगता है। समत्व का प्रारंभ हो जाता है।

आरती

आरती शब्द बना है अर अर्थात् प्रकाश से। आरती के दौरान बाती प्रज्ज्वलित की जाती है तथा स्थापित मूर्ति को ईश्वर की प्रतिकृति मानकर वन्दना गाई जाती है।

आरती के अंतरंग भाग हैं – लयबद्ध गायन, दीपक, चँवर, घंटा, प्रणाम।

दीपक जलाने का तात्पर्य है कि ईश्वर और मेरे बीच का जो अंधकार है उस जगह में प्रकाश भर जाए और यह प्रकाश मनुष्य के सभी भ्रमों को मिटा दे।

एक सेवक इस दौरान चँवर डुलाता है। अपने अंतस में यह भाव लिए कि इस प्रकार वह अपने इष्ट को ही पंखा झल रहा है। इस प्रकार आरती सेवा का माध्यम बन जाती है। आरती का लयबद्ध गायन सभी को एक स्वर में आने को प्रेरित करता है इस प्रकार विभिन्नताओं के मध्य एक समता स्थापित हो जाती है।

आरती में सगुण ब्रह्म की उपासना की जाती है व ईश्वर के विभिन्न अवतारों के जीवन की प्रमुख घटनाओं, उनके प्रभाव तथा उनसे अपनी अपेक्षा का वर्णन किया जाता है। प्रार्थना में विभिन्न मनुष्य चाहे कुछ भी माँगें परन्तु आरती में सभी की माँग व इच्छा भी एक हो जाती है।

सगुण ब्रह्म की उपासना होने के कारण आरती मन को संस्कारित करने का भी माध्यम है, जैसे प्रत्येक दिन नियत समय पर व्यक्ति पूजा कक्ष या मंदिर की ओर स्वतः ही चल पड़ता है। इस समय वह मन के विभिन्न प्रलोभनों को भी अनदेखा कर देता है।

जिसप्रकार भ्रामरी प्राणायाम में मनुष्य अपने भीतर गुंजन पैदा करता है, घंटा भी इसी क्रियाविधि पर काम करता है। घंटे की ध्वनि कानों के माध्यम से मस्तिष्क में वैसा ही गुंजन पैदा करती है। यह ध्वनि कुछ वैसी ही होती है जैसा की शून्य

में गुंजायमान ओंकार। यह दूसरी ध्वनियों को विलीन कर देता है, जिससे की मन एकाग्र हो सकता है। अंत में दंडवत प्रणाम इंगित करता है कि प्रभु मैं पूर्णतया आपके चरणों में समर्पित हूँ, कृपया मेरा नियन्त्रण वैसे ही अपने हाथ में लें जैसा कि अर्जुन के रथ का नियंत्रण आपने अपने हाथों में लिया था। आप मेरा मार्गदर्शन वैसे ही करें जैसा कि अर्जुन का किया था।

❖❖❖

गेरुआ वस्त्र क्यों?

गेरुआ रंग द्योतक है आरंभ का और अंत का भी। सूर्योदय और सूर्यास्त दोनों ही वक्त सूर्य का रंग गेरुआ होता है। भगवा वस्त्र अथवा गेरुआ वस्त्र यह स्मरण कराने के लिए हैं कि संन्यासी अपने दोनों तटों के बीच में है। वह पुल पर है और अपने स्वभाव के अनुसार एक उचित मार्ग को माध्यम बना, अपनी छलांग की तैयारी कर रहा है। उस तट पर पहुँच जाने के पश्चात् किसी रंग की आवश्यकता न होगी। रंग हो तो भी ठीक, न हो तो भी ठीक। गैरिक वस्त्र यह घोषणा करता है कि व्यक्ति अब खोज रहा है! लेकिन गंतव्य न मालूम होने के बाद भी, मार्ग की पहचान न होने के पश्चात् भी, वह बस उठता है और चल देता है। सामने जो कुछ भी आता है वह उसका अनुभव करना चाहता है। कोई दूसरा यात्री जो उसे अपने मार्ग के बारे में बताए, उस मार्ग को भी वह परख लेना चाहता है लेकिन उसके लिए सबसे उचित मार्ग वही है जो उसके स्वभाव के सबसे निकट हो। कई बार तो उसे स्वयं भी पता नहीं होता कि उसे मार्ग मिल चुका है। वह चलता रहता है

और कई यात्री ऐसे भी मिलेंगे जो पहुँच जाने के बाद ये जान पाते हैं कि उनका मार्ग कौन-सा था।

- अंत पदार्थिक जीवन में संतृप्ति ढूँढने का और प्रारंभ प्रकाश की ओर गमन का।
- अंत कर्मकाण्डिय पक्ष का और प्रारंभ ज्ञानकाण्ड का।
- अंत सम्बन्धों में मोह का ओर प्रारंभ समत्व की ओर यात्रा का।
- अंत उस नाम का जो समाज ने व्यक्ति को दिया था और प्रारंभ उस नाम का जो अध्यात्मिक जीवन का द्योतक है।
- अंत जाति, उपजाति और गोत्र की सीमितता का और प्रारंभ क्षितिज के विस्तार का।
- अंत जीवन की जड़ता का और प्रारंभ चेतना के फैलाव का।
- अंत मोह का, प्रारंभ प्रेम का।
- अंत काम का, प्रारंभ सोम का।
- अंत शव का, आरंभ शिव का।
- अंत मन का, आरंभ आत्मा का।
- अंत बुद्धि का, आरंभ बुद्ध का।
- अंत अधिकार का, आरंभ ओंकार का।
- अंत बाह्य सीमितता का, आरंभ आंतरिक गहराई का।
- अंत सांसारिक जीवन का, आरंभ आंतरिक यात्रा का।
- अंत भावनात्मक उतार–चढ़ाव का, आरंभ भाव में स्थिरता का।
- अंत पूर्वार्द्ध का, आरंभ उत्तरार्द्ध का।
- अंत दक्षिणायण का, आरंभ उत्तरायण का।

- अंत महत्वपूर्ण का, आरंभ सामान्य का।
- अंत संकर का, आरंभ शंकर का।
- अंत इच्छाओं का, आरंभ मात्र आवश्यकताओं का।
- अंत सामाजिक जीवन का, आरंभ शाश्वत जीवन का।
- अंत विभिन्नताओं का, आरंभ समत्व का।
- अंत वाचालता का, आरंभ मौन का।
- अंत वाह्य असहमति का, आरंभ आंतरिक द्वंद का।
- अंत भ्रम का, आरंभ यथार्थ का।
- अंत सामाजिक धर्म का, आरंभ वास्तविक धर्म का।
- अंत पिण्ड का, आरंभ शून्य का।

❖❖❖

विवाह में चार या सात फेरे और क्यों?

विवाह के सात फेरे शरीर के सात चक्रों को प्रदर्शित करते हैं। मनुष्य की जीवन यात्रा इन्हीं सात चक्रों/चरणों की यात्रा है।

1. मूलाधार – पति और पत्नी एक दूसरे की काम सम्बन्धित आवश्यकताओं में एक–दूसरे के सहायक हों।

2. स्वाधिष्ठान – पति और पत्नी कामनाओं तथा सामाजिक अधिकार प्राप्त करने के प्रयास में एक दूसरे के सहायक हों।

3. मणिपुर – दोनों एक दूसरे को मान–सम्मान प्रदान करें।

4. अनाहत – एक दूसरे के हृदय में स्थान बनाने का प्रयास करें। प्रथम चार चरणों की यात्रा दो शरीरों अर्थात् स्त्री व पुरुष के साथ आकर सांसारिक जीवन में कुछ सृजनात्मक करने की यात्रा है। जिसके माध्यम से दोनों संतुष्टि प्राप्त करने में एक–दूसरे के सहायक हो सकें। ये चार चरण मनुष्य की जीवन यात्रा के चार स्थूल चरण हैं। इसके आगे के तीन चरणों की यात्रा स्थूल स्त्री व पुरुष ऊर्जा की नहीं अपितु सूक्ष्म शक्ति की शिव की ओर यात्रा है। यह शक्ति पुरुष और स्त्री दोनों के ही शरीरों में स्थित है। पहले चार चरणों की यात्रा सामाजिक है तो अगले तीन चरणों की यात्रा नितांत एकाकी है। प्रथम चार चरणों की यात्रा जीव की समृद्धि की यात्रा है और अगले तीन चरणों की यात्रा व्यक्तित्व के विलीन होने की। सात फेरों का प्रचलन रहा है, परंतु अब बहुधा चार फेरे ही देखने में आते हैं।

प्रथम चार चरणों की यात्रा जीव की है, इसमें वह अन्य जीवों का साथ ले भी सकता है और उन्हें अपना साथ दे भी सकता है क्योंकि यह यात्रा नेत्रों के सामने सम्पन्न होती है। अगले तीन चरणों की यात्रा तब संभव है जब जीव आंतरिक रूपान्तरण की प्रक्रिया से गुजरकर अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है। इसके आगे के तीन चरणों की यात्रा चेतना की नितांत एकाकी यात्रा है। यह अदृश्य होती है। इसमें चेतना अपने केन्द्र की ओर गमन करती है। जीव रूप में यात्रा तभी तक संभव है, जब तक चेतना स्वयं को जीव मानती रहे। फेरे जीव को बाँध सकते हैं किन्तु चेतना को कौन बाँध सकेगा? समाज जीव के लिए है लेकिन चेतना समाज के लिए है।

छाबड़ी

छाबड़ी आत्मा, जीव और चेतना को दर्शाती है। हर जीव के केन्द्र में आत्मा है, जो जीव के होने का कारण है। आत्मा के चारों ओर जीव होता है। जीव और आत्मा मिलकर जीवात्मा का निर्माण करते हैं।

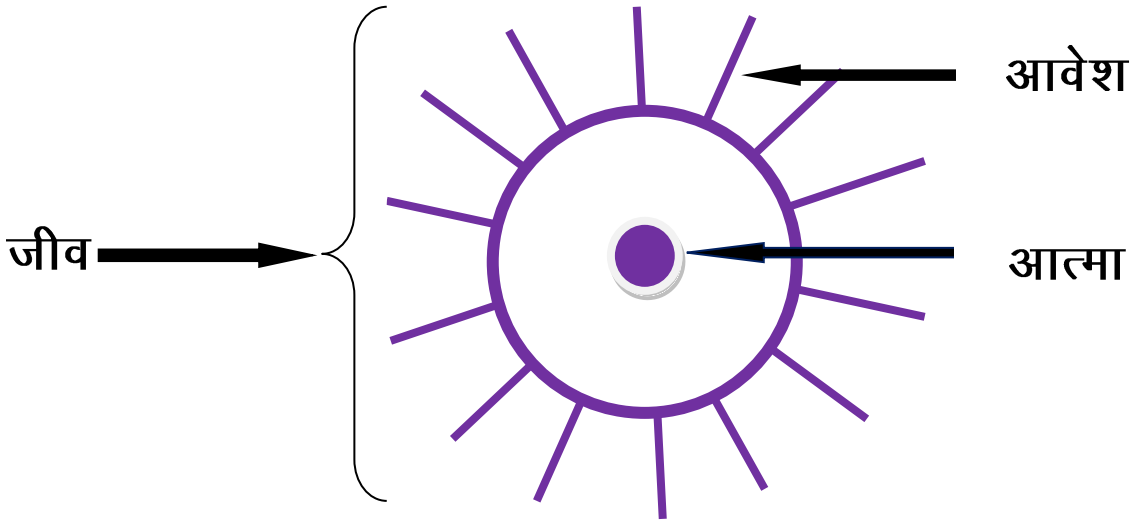

इसमें लाइनें हैं जीवन के चारों ओर उपस्थित आवेश का जिससे वह अपने बाह्य वातावरण से प्रतिक्रिया करता है। ये आवेश ही जीव के शरीर लेने का कारण होते हैं। मनुष्य इन आवेशों के कारण ही जीवनभर अपने बाह्य वातावरण से प्रतिक्रियाएँ करता रहता है और स्वयं को आवेशित करता रहता है। वस्तुतः इन आवेशों के कारण ही मनुष्य की कामनाएँ हैं। कामना प्रधान जीवन इन्हीं आवेशों को संरक्षित रखता है और योग इन्हीं आवेशों पर सतत् कार्य कर इन्हें क्षीण करता रहता है। इन आवेशों की अनुपस्थिति में जीव अपने बाह्य वातावरण से प्रतिक्रिया नहीं कर पाता। इसप्रकार जीव की शक्ति बाहर

की ओर प्रवाहित होनी रुक जाती है और शक्ति संवर्धन प्रारंभ हो जाता है। शान्ति संवर्धन ही सुप्त शक्तियों का जागरण है। जीव एक द्विध्रुवीय व्यवस्था है, जिसके दक्षिणी छोर पर शक्ति और उत्तरी छोर पर शिव का वास है। शिव को प्राप्त करने हेतु माँ पार्वती को तपस्या करनी पड़ी और उस तपस्या के फलस्वरूप उन्होंने अपनी शक्ति में वृद्धि की, जिससे प्रसन्न होकर शिव ने शक्ति को स्वीकार किया। ठीक उसी प्रकार जीव में भी यह प्रक्रिया सूक्ष्म स्तर पर संपन्न होती है।

जीवन अपनी शक्ति का संवर्धन कर उसे शिव को अर्पित करता है, जिससे जीव का विखण्डन होता है। जीव में उपस्थित 'ई' (शक्ति) जब शिव से संयुक्त हो जाती है तो जीव का कुण्डलिनी बंधन खुल जाता है। जिससे प्राप्त होता है 'ज' (जन्म) और 'व' (वर्तमान)। जीव विखण्डित हो चेतना को जन्म देता है और चेतना वर्तमान को प्राप्त करती है। जीव का विखण्डित होना ही मोक्ष कहलाता है।

मंदिरों में पुरुषों को स्वास्तिक व स्त्रियों को छाबड़ी बनाते आपने देखा होगा। इस संरचना में केन्द्र पर बिन्दु व उसके चारों ओर वृत्त होता है तथा वृत्त के चारों ओर स्पर्शक जैसी संरचना होती है।

हरि ओम तत् सत्

हर एक में शक्ति व ओम है और यही सत्य है।

- हरिः ओम तत् सत्।

इस प्रकार यह धर्म से सम्बन्धित दिखने वाला वाक्य पूर्णतया स्वयं से सम्बन्धित है। जिस प्रकार कपड़े ठण्ड में गर्मी व गर्मी में आराम देने वाले होने चाहिए, उसी प्रकार धर्म धारण करने का उद्देश्य है धारण करने वाले मनुष्य को सत्य से परिचित कराना। हरिः ओम तत् सत बोलने वाला तो इस तथ्य को समझता ही है, साथ ही सुनने वाले को भी यह संदेश प्राप्त होता है। व्यक्ति की यात्रा, विभिन्नताओं की यात्रा है। वो समाज में चारों ओर विभिन्नताएं ही देखता है और उनकी ओर आकर्षित होता है। हरिः ओम तत् सत् विभिन्नता में स्थित उस एक समानता की ओर संकेत करता है, ताकि व्यक्ति विभिन्नता में कहीं खो न जाए। जब तक हम विभिन्नताओं को ही जानते हैं, उन्हें ही पाटने का प्रयास करते हैं और जब आप एक बार सत्य जान जाएँ तो उसे पाने का प्रयास करते हैं। हरिः ओम तत् सत् ऐसा वाक्य है, जो आपके खोजने की दिशा को बदल सकता है। आपके समय, ऊर्जा और शक्ति की बचत कर सकता है। इस लोक की संरचना ही ऐसी बनाई गई है कि इसमें विभिन्नताएँ तो कभी खत्म न होंगी। इसी कारण विभिन्नताओं के पीछे भागते–भागते आप कभी उन्हें समाप्त न कर पाएंगे। हाँ उनसे ऊब अवश्य सकते हैं।

पैसे कमाना, पढ़ाई करना, जानकारी बढ़ाना, डिग्रियाँ एकत्र करना, समाज में पद प्रतिष्ठा की चाह रखना, सम्मान की अपेक्षा, सुखी जीवन की इच्छा, अपने साथ अपने परिवार के सुख की अपेक्षा व इच्छा, बच्चों द्वारा अपने माता–पिता से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की अपेक्षा, माता–पिता की बच्चों से अपनी देखभाल व अच्छे स्वभाव की अपेक्षा, सड़क पर दूसरे चालकों से अपेक्षा करना

कि वे नियमों का उल्लंघन न करेंगे, जनता की सरकार से व सरकार की जनता से अपेक्षा। जो कुछ भी हमारे चारों ओर चलता है, ये सब कुछ विभिन्नता को पाटने का ही प्रयास है। उपाय यही है कि इस तथ्य को जान जाना कि विभिन्नता ही मायाजाल है और जहाँ पर माया और जाल दोनों हों, बेहतर हो उससे परे चले जाना। उसके विपरीत दिशा में गमन करना। हरिः ओम तत् सत् इसी तथ्य का स्पष्टीकरण है।

❖❖❖

महंत

महंत = मह + अंत अर्थात् महत्ता का अंत।

मठ आत्म मंथन के केन्द्र हैं। इनका नियंत्रण ऐसे व्यक्ति को ही सौंपा जा सकता है जिसने स्वयं आत्म–मंथन की प्रक्रिया पूर्ण कर ली हो। पहाड़ के शीर्ष पर खड़ा व्यक्ति दूसरों को ऊपर खींचने में अपना योगदान कर सकता है। वह व्यक्ति जो महत्ता के भ्रमजाल से ग्रसित है, वह महंत न होकर महत्वपूर्ण हो जाएगा। महत्वाकांक्षा से ग्रसित व्यक्ति अभी स्वयं ही अपने शीर्ष पर नहीं पहुँचा, इस प्रकार वह दूसरों की किस प्रकार सहायता कर सकेगा। एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति के नियंत्रण में मठ अपनी प्रासंगिकता खो देगा और मात्र एक व्यापारिक प्रतिष्ठान बनकर रह जाएगा। महंत मठ का सबसे सामान्य व्यक्ति है। उसके अलावा सभी स्वयं को महत्वपूर्ण ही मानेंगे। यदि आप ऐसी किसी भी जगह पर पहुँच गए तो आप मठ में पहुँच गए, फिर इससे कोई फर्क

नहीं पड़ता कि वो जगह कोई व्यापारिक प्रतिष्ठान है या मंदिर। वो जगह वास्तव में मठ ही है।

महंत कोई पद नहीं अवस्था है। महंत का पूरा समर्पण मठ में रहने वाली चेतनाओं के प्रति है। मठ के नियंत्रण में उसकी शायद ही कोई रुचि हो। मठ का संचालन किसी योग्य व्यक्ति को सौंपकर, वह स्वयं को अपने एकमात्र लक्ष्य तक सीमित कर लेना श्रेयष्कर समझेगा। महंत स्वयं को शिष्यों के आत्म शोधन की प्रक्रिया के प्रति समर्पित रखना चाहेगा।

स्वयं के शरीर छोड़ने से पहले वह किसी ऐसे शिष्य को देखना चाहेगा, जो आत्ममंथन की प्रक्रिया को पूर्ण करके स्वयं को प्राप्त कर चुका हो। उसका शिष्य महंत की अवस्था प्राप्त करे, यही महंत के मन की एकमात्र इच्छा होती है। ऐसे शिष्य को प्राप्त करने में ही मठ की सफलता है। यद्यपि महंत स्वयं सफलता और असफलता से परे अवस्था है क्योंकि सफलता सदैव बुद्धि की देन है और महंत का सारा कार्य ही बुद्धि से परे है। उसके शिष्यों में कई बुद्धिमान और प्रखर होंगे परन्तु महंत उन्हें भी बुद्धि से स्वयं को अलग करने की सलाह देगा। वह नहीं चाहेगा कि उसके शिष्य बुद्धि का आवलंबन करें। वह उन्हें न बुद्धिमान बनाना चाहता है और न ही बुद्धिहीन। वह उन्हें बस बुद्धि से अलग अपने स्वतंत्र अस्तित्व को पाते हुए देखना चाहेगा।

मठ

मठ शब्द उत्पन्न है मथ से। मथ अर्थात् मंथन अथवा मथना। मठ वह स्थान है, जहाँ पर आत्ममंथन की प्रक्रिया चले। वह स्थान जो आपके व्यक्तित्व को महत्व न देकर, आपकी वास्तविकता को महत्ता दे और वास्तविकता सभी की, चींटी से लेकर मनुष्य तक की एक है। मठ को आपके अहंकार या व्यक्तित्व से कोई लेना–देना नहीं। इसलिए ऐसे व्यक्ति जो भूल से मठ में चले गए हों, उनके आत्म अभिमान को चोट पहुँच सकती है क्यूँकि न तो आपको वरीयता मिलेगी और न ही विशेष सत्कार।

वास्तविकता में मठ, शेष दुनियाँ से बिल्कुल विपरीत स्थान है। शेष जगत में जहाँ मन और बुद्धि को वरीयता दी जाती है। मठ में ठीक इसके उलट सबको समत्व दिया जाता है। मठ उन व्यक्तियों की आश्रय स्थली है जो मन और अहंकार से या तो संतुष्ट हो चुके हों या प्रताड़ित हो चुके हों। वे व्यक्ति जिन्होंने जीवन में अब तक जो भी देखा और पाया, उसने उनके अंदर की व्यग्रता को शांत न किया। वह स्थान जो आपके व्यक्तित्व को प्रोत्साहन न देकर, स्वयं आपको प्रोत्साहित करे क्योंकि आप और आपका व्यक्तित्व एक नहीं, वरन् दोनों एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। आत्म मंथन ठीक वैसा ही सागर मंथन है, जो देवताओं और दानवों ने मिलकर किया था। हर व्यक्ति के भीतर भी ठीक ऐसा ही मंथन होता है, जो आपके स्वभाव, जो देवताओं का प्रतिनिधित्व करता है और आपका मन जो असुरों को इंगित करता है, के द्वारा मिलकर पूर्ण होता है। असुर और देवता दोनों ही अमर नहीं थे और इसी अमरत्व की चाह में वे मंथन को उद्यत हुए। न असुर ही स्वयं से संतुष्ट थे और न देवता ही। दोनों की ही खोज चल रही थी और यही खोज उन्हें सागर मंथन तक खींच लाई। जब देवता ही स्वयं से संतुष्ट नहीं तो मनुष्य स्वयं से कैसे संतृप्त हो सकेगा। हर व्यक्ति की

यही अपूर्णता ही उसे सागर मंथन को विवश करती है। यद्यपि हर व्यक्ति इस प्रक्रिया को अपने स्थान पर सीमित होकर कर सकता है परंतु इस आत्म मंथन की प्रक्रिया को सुगम करने हेतु मठों की रचना की गई। जहाँ पर वह समाज व परिवार के मन से मुक्त होकर, स्वयं तक सीमित रहकर, एक महंत की अनुभूतियों से तृप्त होकर, प्राकृतिक परिवेश में इस प्रक्रिया को निर्बाध रूप से कर सके।

❖❖❖

नेति-नेति

नेति = न + इति (जिसका कोई अंत नहीं।)

पक्ष भी नहीं, विरोध भी नहीं

सुख भी नहीं, दुःख भी नहीं

मन भी नहीं, बुद्धि भी नहीं

व्यक्ति भी नहीं, व्यक्तित्व भी नहीं

मोह भी नहीं, लोभ भी नहीं

काम भी नहीं, कामना भी नहीं

उदित भी नहीं, अस्त भी नहीं

पुरुष भी नहीं, स्त्री भी नहीं

आवश्यकता भी नहीं, इच्छा भी नहीं

राजा भी नहीं, रंक भी नहीं

बंध भी नहीं, संबंध भी नहीं

नाम भी नहीं, दाम भी नहीं

जाति भी नहीं, गोत्र भी नहीं

धर्म भी नहीं, अधर्म भी नहीं

सुंदर भी नहीं, कुरुप भी नहीं

अतीत भी नहीं, भविष्य भी नहीं

वर्तमान भी नहीं, समय भी नहीं

विद्या में नहीं, विद्वता में नहीं

वर्ण में नहीं, आश्रम में नहीं

भाषा में नहीं, शब्दों में नहीं

मानवता में नहीं, पशुता में नहीं

समाज में नहीं, परिवार में नहीं

चित में नहीं, चित्र में नहीं

विचार में नहीं, योजना में नहीं

ये भी नहीं, वो भी नहीं।

नेति नेति वैदिक कालीन सूत्र है। इस सूत्र ने सत्य की खोज के परिणामस्वरूप जन्म लिया। सत्यानवेशियों के पास सत्य की खोज के दो ही साधन थे– मन और बुद्धि। जिससे उन्होंने अपनी यात्रा प्रारंभ की। सत्य की

खोज हेतु 6 मुख्य मार्ग बताए गए। प्रेम, ज्ञान, भक्ति, योग, सेवा, विवेक। जिसमें से प्रेम, ज्ञान, भक्ति, सेवा और विवेक मन व बुद्धि से परे हैं। न मन को और न बुद्धि को इसमें कोई रुचि है। मन प्रेम नहीं मोह जानता है और बुद्धि सभी अवस्थाओं में लाभ को ढूँढती है।

अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा व समाधि) में आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ही बुद्धि से थोड़ा अवलंबन लेते हैं। इस प्रकार जिस खोज का आधार ही बुद्धि न हो, उस खोज का परिणाम बुद्धि द्वारा कैसे प्राप्त हो सकता है?

नेति शब्द का एक अर्थ 'नहीं' भी बताया जाता है। मन और बुद्धि द्वारा की गई व्याख्या सत्य तक नहीं पहुँच पाएगी। इसी कारण सत्य आपके द्वारा दिए गए सभी विकल्पों से परे हैं। उसका कोई अंत नहीं और मनुष्य द्वारा जानी गई सभी वस्तुएँ कभी न कभी नष्ट हो जाती हैं। अर्थात् वे अंत से परे नहीं। सत्य अपरिवर्तनीय व स्थिर है, इसी कारण अरबों सालों से पृथ्वी और उसके भी न जाने कितने पहले से यह ब्रह्माण्ड स्थित है। बुद्धि के माध्यम से हम सृष्टि की उम्र तक शायद पहुँच भी जाएँ परन्तु उस कारण जिससे सृष्टि का उदय हुआ, तक नहीं पहुँच सकते। इसी कारण सत्य का न आदि है और न अंत। इसी कारण सत्य के सम्बन्ध में विकल्प मत दो। उसे खोजो और आत्मसात करो।

दुःख की घड़ी में बोला जाने वाला वाक्य :
''भगवान आपको दुःख सहन करने की शक्ति दें!''

दुख की घड़ी में बोला जाने वाला वाक्य, कि भगवान आपको दुख सहन करने की शक्ति दें। शक्ति ही क्यों दें? उर्जा क्यों नहीं? ऊर्जा तो चारों ओर उपलब्ध है। आप कहीं से भी उसे प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन भगवान शक्ति कैसे देगा? भगवान ही क्यों दें? और शक्ति ही क्यों? क्या ऊर्जा से दुख को संभाला न जा सकेगा? सामर्थ्यवान की पहुँच उर्जा के भंडार तक है। हर व्यक्ति की है। ऊर्जा क्यों आपकी मदद नहीं कर पाएगी?

वास्तव में शक्ति ही शांति है। दुख एक उत्तेजना है। एक भावनात्मक उत्तेजना और उत्तेजना कभी भी शांति नहीं देती। दुख की घड़ी में व्यक्ति को सबसे ज्यादा शांति की आवश्यकता है। वो पहले से ही बहुत उत्तेजित हैं। शक्ति का स्रोत ईश्वर हैं और इसी शक्ति को वे बढ़ाकर व्यक्ति को शांति प्रदान कर सकते हैं। दुख की घड़ी में व्यक्ति को जिस चीज की सबसे ज्यादा आवश्यकता हैं वो है शक्ति। मनुष्य ऊर्जाओं से बँधा है वो ऊर्जाओं के पीछे भागा करता हैं और वो अपनी शक्ति को भी ऊर्जा में परिवर्तित कर उपयोग कर लिया करता है। मात्र ईश्वर ही हैं, जिन्होंने स्वयं को ऊर्जाओं के खेल से निर्लिप्त रखा है। शक्ति का उद्‌गम भी उन्हीं से है। इस कारण ईश्वर ही आपको शांति और शक्ति दे सकते हैं। वास्तव में शक्ति में ही हमारी सारी समस्याओं का समाधान छिपा है। जीवन के पहले या जीवन के पश्चात् मातृ शक्ति अर्थात् प्रकृति ही है। बस हमारा जीवन ही शक्तिहीन बीतता है, जिसका कारण है मन और बुद्धि पर हमारी निर्भरता।

शक्तिहीन रहकर हम जीवन से सम्बन्धित अपने प्रयोग को करते रहते हैं परंतु जब कभी भी समस्याओं से घिरते हैं तो भगवान् से करुणा व कृपा की पुकार लगाते हैं। करुणा व कृपा शक्ति ही तो हैं। हम जीवन में आने के लिए शक्तिहीन होना स्वीकार करते हैं क्योंकि जीवन लेने हेतु अपनी शक्ति की चाबी मन और बुद्धि को देनी होती है। इस खजाने का वे अपनी इच्छानुसार उपयोग कर मनुष्य से जीवन में विभिन्न प्रयोग करवाते हैं। यह ठीक उसी प्रकार से है जैसे किसी सेठ का अपहरण कर दो शातिर डकैत, सेठ के ही खजाने का उपयोग कर, सेठ से ही वे सारे काम करवाते रहें जो उसे करने ही नहीं। वे वस्तुएँ खरीदवाते रहें जिसकी सेठ का उपयोगिता ही नहीं। जीवनभर सेठ को अपने नियंत्रण में रखें और उसे मुक्त तब ही करें जब सेठ जी के पास न संसाधन ही बचें और न जीवन ही। इसी कारण जब भी मनुष्य मन द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों से परेशान होता है, तो वह शांति चाहता है और शांति उसे यदि कहीं से प्राप्त होगी, तो शक्ति से ही।

❖❖❖

शुभ कार्यों में नारियल का उपयोग क्यों?

विवाह संबंधित रस्मों में शुभ कार्यों के प्रारंभ में, पूजन में तथा मंदिरों में नारियल का उपयोग विशेष महत्व रखता हैं। नारियल को सिर्फ चढ़ाना नहीं, उसे सिर्फ तोड़ना भी जरूरी होता है। प्रयास चाहे एक से ज्यादा करने पड़े, लेकिन नारियल के टूटने पर ही शुभारंभ माना जाता हैं। नारियल में पांच परतें होती हैं बाहरी तीन और भीतरी दो। बाहरी तीन परतों में छिलका, रेशे और भीतर का कड़ा खोल। भीतर की दो परतों में गरी और पानी। मानव के अन्तस की संरचना भी काफी कुछ नारियल से मिलती हैं। छिलका मन, रेशे बुद्धि और भीतरी अत्यंत कड़ा खोल अहंकार को इंगित करता है और इस खोल के टूटने पर ही, भीतर गरी रूपी चेतना और पानी रूपी चैतन्य प्राप्त होते हैं। नारियल के फूटने से ईश्वर के प्रसन्न होने से कोई संबंध नहीं हैं। सनातन धर्म सत्य को इंगित करने के लिए, कई प्रतीकों का सहारा लेते हैं और नारियल भी उन्हीं में से एक है। जिस किसी ने भी नारियल फोड़ा हो वो जानता है कि ये एक अत्यंत कठिन काम है। बाहरी छिलके को हटाना होगा, रेशों को छील कर अलग करना होगा, भीतरी कड़क खोल कों कठिन प्रयास द्वारा तोड़ना होगा और तब कहीं जाकर नारियल के भीतरी भाग में उपस्थित फल तक हमारी पहुँच बन पाएगी।

कृष्ण ने भी गीता में ये संकेत दिया है कि सदैव से योगियों ने उस ज्ञान को अपने भीतर ही पाया है। जिस प्रकार दर्पण गंदगी कि कई परतों द्वारा ढक जाता है, ठीक उसी प्रकार व्यक्ति के भीतर चेतना व्यक्तित्व की कई परतों द्वारा ढँकी होती है। जिन योगियों ने नारियल को धार्मिक प्रतीकों में शामिल किया, उनका मंतव्य भी नारियल में छुपे रहस्य को और धर्म में छुपी आध्यात्मिकता को लोगों तक पहुँचाना रहा होगा।

नारियल का बीज गरी के बीच छिपा होता है। गरी तक पहुँचे बिना बीज तक पहुँचने का कोई उपाय नहीं। ठीक उसी प्रकार मनुष्य जब तक अपने भीतर चेतना तक नहीं पहुँच जाता, तब तक वह अपने बीज को विनष्ट नहीं कर सकता और बीज जब तक सुरक्षित, तब तक शरीर लेने की प्रक्रिया रूकेगी नहीं।

नारियल का खोल हमारे अहंकार की भाँति है। न जाने कितनी चोट किए जाने पर ही वह दरकना प्रारंभ करता है। नारियल को तोड़कर ही जल को मुक्त किया जा सकता है। उसी प्रकार अहंकार को तोड़े बिना, आत्मा तक पहुँचने का कोई उपाय नहीं।

रेशों और कड़े खोल में न स्वाद है और न ही पौष्टिकता। वहीं जल गले को तृप्त करता है और गरी पेट को संतुष्ट। भूख और प्यास का इंतजाम एक साथ। हर मनुष्य जीवन में मात्र प्रेम और सुख ही ढूँढता रहता है और अपनी आत्मा तक पहुँचे बिना न वो प्रेम ही प्राप्त कर सकता है और न सुख ही। नारियल इसी शाश्वत संदेश की अभिव्यक्ति है।

शिव विनाशक क्यों?

भारतीय पौराणिक ग्रंथों में शिव को सृष्टि का विनाशक और मोक्ष प्रदाता कहा गया है। अर्थात् शिव ही हैं जो सृष्टि का विनाश भी करते हैं और मोक्ष भी प्रदान करते हैं। लेकिन ये दोनो बातें एक साथ कैसे संभव है? यदि विनाश ही हो जाएगा, तो मोक्ष कैसे मिलेगा और यदि मोक्ष मिला तो फिर विनाश कैसा? वास्तव में जब तक विनाश न होगा, तब तक मोक्ष संभव नहीं। विनाश अर्थात विजातीय का नाश। एक व्यक्ति के व्यक्तित्व से जब तक विजातीय तत्व अलग ना होंगे, तब तक वो मुक्त होगा कैसे? और यह विजातीय तत्व हैं आठ जड़ तत्व अर्थात् क्षिति (पृथ्वी), जल, पावक, गगन, समीर, मन, बुद्धि और अहंकार। इन सभी जड़ तत्वों का चेतना से अलग होना ही, मुक्ति या मोक्ष कहलाता है। सृष्टि शब्द बना हैं सृ + अष्ट + इ अर्थात् सृजन, अष्ट और शक्ति से। अर्थात् सृजन शक्ति और आठ जड़ तत्वों के मिलने से होता हैं। मोक्ष का तात्पर्य यह है कि सभी आठ जड़ तत्वों और शक्ति से बंधन अब समाप्त हुआ। अब चेतना अपने परम गंतव्य को लौट सकती है। लेकिन शिव इस विनाश और मोक्ष की प्रक्रिया को कैसे संपन्न करते हैं? हमारा शरीर द्विध्रुवीय व्यवस्था से बना है जिसके एक छोर पर शक्ति और दूसरे छोर पर शिव होते हैं। शक्ति से ही व्यक्ति की चेतना बंधी होती है। यह शक्ति अपने ध्रुव से उठकर, जब दूसरे ध्रुव अर्थात् शिव तक पहुँचती है। तब वह चेतना को मुक्त कर शिव से जुड़ जाती है और इस प्रकार व्यक्ति की खोज पूर्ण होती है। और इस दशा में चेतना सहस्रार के माध्यम से शिव से आगे बढ़ परमतत्व में विलीन होने को स्वतंत्र हो जाती हैं। इसी प्रक्रिया का नाम मोक्ष है। वास्तव में शिव हमारे व्यक्तित्व का संहार करते हैं। ये हमारे उसी भाग का नाश कर सकते हैं, जो

नाश करने योग्य है या जिसका नाश किया जा सकता है। हमारा वो भाग जो सनातन है, शिव द्वारा नाश की प्रक्रिया से मुक्त है, वो स्वतंत्र हो जाता है। यदि शिव विनाश न करें, तो मोक्ष मिलना संभव नहीं। इसलिए विनाश से भय का कोई औचित्य नहीं। विनाश मात्र आपके व्यक्तित्व का हो सकता हैं, व्यक्ति का हो सकता हैं, लेकिन चेतना का नहीं। इस विनाश में ही महाजीवन छुपा है। हर एक योगी की तपस्या का परम फल यही व्यक्तित्व का विनाश है। मन विनाश के प्रति भय उत्पन्न करता है, लेकिन सदियों से सत्यानवेषियों ने शिव की आराधना की ताकि वे उन्हें सृष्टि के चक्र से मुक्त कर सकें।

❖❖❖

गंगा का वेग से धरती पर उतरना

भारत में एक कहानी बच्चों को सुनाई जाती हैं कि जब भागीरथ ने गंगा को पृथ्वी पर उतारने के लिए तपस्या की। तब एक समस्या आ खड़ी हुई कि गंगा स्वर्ग से अतिवेग से पृथ्वी पर उतरेगी। उन्हें थामा कैसे जा सकेगा? तब शिव ने अपनी जटाओं में उन्हें धारण कर उनके वेग को शांत किया। सनातन धर्म ने गूढ़ रहस्यों को इसी प्रकार कहानियों में परिवर्तित कर उन्हें समाज में प्रस्तुत किया ताकि रहस्यों को तब तक रहस्य रहने दिया जाय, जब तक व्यक्ति उन्हें स्वयं न खोज ले। वास्तव में गंगा और शिव, दोनों ही, हर एक व्यक्ति के भीतर उपस्थित हैं। गंगा हमारी वो प्रसुप्त शक्ति है जो मूलाधार में सोई रहती है और तप के माध्यम से या दैव योग से जब यह जागती है, तब

यह अत्यंत व्यग्र होकर शिव को प्राप्त करना चाहती है। परंतु शिव तक पहुँचने का एक निश्चित मार्ग है। उस मार्ग के खुले न होने पर यह शक्ति शरीर में एक व्यग्रता पैदा करती है, क्योंकि जागृत होने के पश्चात, इसका एक ही गंतव्य है, और वो हैं शिव। साधक तपस्या के माध्यम से अपनी शक्ति व अपने अंतःकरण पर कार्य करते हुए सावधानी पूर्वक इस शक्ति को नियत मार्ग प्रदान करता है। जिस क्षण यह शक्ति शिव से जा मिलती है उसी क्षण इसका वेग शांत हो जाता है। क्योंकि वेग की अब आवश्यकता नहीं बची। शक्ति शिव से जा मिली, यात्रा पूर्ण हुई। गंगा ने भगीरथ के भीतर ही अपनी ये यात्रा पूर्ण की और शिव से मिलते ही सौम्य होकर वह सहस्रार के माध्यम से शरीर से बाहर निकल गयी। इस प्रकार भगीरथ अपने भीतर एक गोमुख को खोलने में सफल हुए। पृथ्वी पर बहने वाली गंगा हमारे शरीर में उपस्थित गंगा की ओर ही इंगित करती हैं। हर एक व्यक्ति को कभी ना कभी भगीरथ बनना ही होता है। वह अपने शरीर में इसी प्रक्रिया को दोहराता है, जो सदियों पहले भगीरथ ने संपन्न में की थी।

भारतीय अध्यात्मिक जीवन में गंगा को माँ का स्थान प्राप्त है। वास्तव में हर व्यक्ति के शरीर में स्थित शक्ति ही गंगा हैं। जिस प्रकार नदी प्रवाहित होती है, ठीक उसीप्रकार यह शक्ति भी शरीर में ऊर्ध्व दिशा में प्रवाहित होती है। शक्ति और गंगा नदी में यही साम्यता है। मनुष्य प्रकृति की इसी शक्ति के कारण जन्म लेता है। यही शक्ति उसका पालन पोषण करती है, उसे बड़ा करती है, और इस शक्ति के शरीर में रहने तक व्यक्ति जीवित रहता है। शक्ति के अर्थात जीवनी शक्ति के समाप्त होते ही वह शरीर छोड़ देता है। इस प्रकार यह शक्ति माँ के रूप में काम करती है। जब तक यह स्वयं जीवित हैं या फिर स्वयं शिव से मिलकर शांत ना हो जाए, तब तक वह चेतना का साथ नहीं छोड़ती। इसी

कारण शरीर में स्थित इस शक्ति को माँ कहा गया है। गंगा नदी से साम्यता होने के कारण गंगा को भी माँ की संज्ञा दी गई है। जिस प्रकार माँ अपने बच्चों की सुरक्षा करती है, उसी प्रकार हम हमारी इच्छा शक्ति भी मन से हमारी सुरक्षा करती हैं। जिस प्रकार माँ अपने बच्चे को दूध पिलाकर उसे जीवन देती है, उसीप्रकार हमारी जीवनी शक्ति भी हमें जीवन का ईंधन प्रदान करती है। जिस प्रकार माँ अपनी संकल्प शक्ति से बच्चों के लिए भोजन, कपड़े व अन्य सुविधाओं का प्रबंध करती है, उसीप्रकार हमारी संकल्प शक्ति भी हमे अपने व्यक्तित्व को आकार देने में सहायता प्रदान करती है। गंगा को माँ कहकर प्राचीन ऋषियों ने इसी गूढ़ सत्य को गंगा में छुपा दिया, ताकि भविष्य में मनुष्य गंगा के माध्यम से इस सत्य की खोज कर सके। जिस प्रकार सृष्टि में गंगा हैं उसी प्रकार हमारा शरीर भी एक छोटी सृष्टि है। इस में गंगा का होना, स्वाभाविक है। शिव द्वारा सृष्टि का विनाश इस शरीर और इससे संबंधित तत्वों से चेतना के संबंध का विनाश है। हमारा शरीर ही हमारी सृष्टि है। जिस प्रकार माँ बच्चे को सदैव धारण किये रखती है और सोते वक्त भी उसे अकेला नहीं छोड़ती, उसीप्रकार हमारे शरीर के भीतर उपस्थित कुंडलिनी शक्ति भी चेतना को स्वयं से बांधे रखती है। हमारी शरीरधारी माँ के भीतर भी यही शक्ति है, जो हमारे भीतर उपस्थित है। इसप्रकार यही एक शक्ति माँ और बच्चे दोनों की माँ है। यही कारण है कि, हम भारतीय लोग गंगा को आदिकाल से माँ के सम्बोधन से पुकारते हैं और मानवता के रहने तक यह माँ बनी रहेंगी।

ज्योति प्रज्ज्वलन क्यों?

ज्योति अर्थात वह शक्ति जो ऊपर की ओर उठे। घरों और मंदिरों से लेकर किसी समारोह की शुरुआत में दीप प्रज्वलन करने का प्रचलन भारत में है। दीप प्रज्ज्वलित किए बिना आरती संभव नहीं और किसी समारोह की औपचारिक शुरुआत भी नहीं मानी जाती। एक दीपक के चार मुख्य भाग्य हैं– दीपक अर्थात् आधार, रुई की बाती, घी और अग्नि। वास्तव में हमारा शरीर भी एक दीपक की ही भाँति है। इसमे शरीर दीपक के रूप में, कुंडलिनी शक्ति बाती के रूप में, इच्छा शक्ति उसमें उपस्थित घी और ज्ञान अग्नि के समान हैं। जिस प्रकार एक दीपक अग्नि के बिना पूर्ण नहीं माना जाता, ठीक वैसे ही ये शरीर भी ज्ञान के बिना पूर्ण नहीं। यही कारण हैं कि भारत में उत्पन्न होने वाले धर्मों जैसे हिंदू, बौद्ध और जैन धर्मों में आत्मज्ञान को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है। दीपक के प्रज्जवलित होने के पश्चात घी प्रकाश के रूप में परिवर्तित हो चारों ओर बिखर जाता है और बाती भी अपना मूल स्वरूप खो देती है। इस कारण इस दीए को पुनः प्रज्ज्वलित करना संभव नहीं होता।

ऐसे ही, इस शरीर में जब तक ज्ञान रूपी अग्नि ना जले, तब तक इच्छा शक्ति और कुंडलिनी शक्ति अपने मूल स्वरुप में स्थित रहेगी और तब तक जीव मुक्त ना हो सकेगा। जब तक एक दीपक प्रकाश ना बिखेर दे तब तक वो पूर्ण नहीं और जब तक एक व्यक्ति ज्ञानरूपी प्रकाश ना बिखेर दे, तब तक वह बंधा हुआ है। अपने मूल स्वरूप को जानना ही ज्ञान है और इस प्रकार से ही मुक्ति संभव है शरीर में उपस्थित शक्ति और दिए में उपस्थित ज्योति दोनों में एक समानता है– दोनों ही गुरुत्व के विरुद्ध ऊपर की ओर उठती हैं। इसी कारण योगी को ऊर्ध्व रेता कहा जाता है। बुद्ध की मूर्तियों में उनके शीश के ठीक

मध्य में एक ज्योति ऊपर की ओर उठती हुई प्रदर्शित की जाती है। यह ज्योति उस ज्ञान को इंगित करती है जो उन्होंने अपनी शक्तियों के माध्यम से उत्पन्न की और जिसे सभ्यता में चारों ओर बिखेर दिया। जिस प्रकार एक दीया अपने आस–पास के वातावरण को प्रकाशित करता हैं ठीक उसी प्रकार एक बुद्ध भी अपने आस–पास के वातावरण को प्रकाशित करता है। एक बुद्ध के होने की उपयोगिता मात्र यही हैं।

❖❖❖

ज्योतिर्लिङ्ग का तात्पर्य

एक बुद्ध के मस्तक से ऊपर उठती हुई ज्योति और एक ज्योतिर्लिंग का तात्पर्य एक समान है। एक सामान्य व्यक्ति अपनी शक्ति को उर्जा में परिवर्तित कर अपने व्यक्तित्व के पालन पोषण में उसे खर्च करता है। मानव सभ्यता के लिए ही ज्योतिर्लिंग में रहस्यों को छुपाया गया। ज्योतिर्लिंग यह संदेश देता है कि आप अपनी शक्ति को ऊर्जा और उष्मा में परिवर्तित करने के बजाय प्रकाश में भी परिवर्तित कर सकते हैं। अर्थात् या तो उसे क्षैतिज दिशा में बिखेरते रहिए या फिर उसी शक्ति को ऊर्ध्व दिशा में उठाकर ज्ञान का दीप प्रज्वलित कीजिए। हर सभ्यता अतीत में अपने निवासियों द्वारा प्राप्त जीवन के रहस्य को सहेजती है और उसे भविष्य में आने वाले सदस्यों की ओर स्थानांतरित करती है। अब संदेशों की अभिव्यक्ति चाहे पुस्तकों के माध्यम से हो या ऋचाओं के माध्यम से हो। शिल्प के माध्यम से हो या फिर कला के माध्यम से। माध्यम

कोई भी हो लेकिन तात्पर्य सिर्फ संदेशों को पहुँचाना है। सनातन धर्म ने इसे ज्योतिर्लिंगों के रूप में अभिव्यक्त किया और बौद्धों ने इसे बुद्ध के मस्तक पर जलने वाली अग्नि के रूप में। ज्योतिर्लिंग उन स्थानों पर स्थापित किए गए जहाँ पर अतीत में योगियों ने कर्म और तपस्या के माध्यम से अपने भीतर आत्म ज्ञान की इस अग्नि को प्रज्वलित किया। इस सृष्टि में अपने स्वरूप को और अपनी महत्ता को पहचान अपने लक्ष्य को जाना। फिर उन्हीं लक्ष्यों की प्राप्ति मे शेष जीवन व्यतीत किया।

सहस्रार पर जलने वाली ज्योति ही ज्योतिर्लिंग है। लिंग इसलिए क्योंकि इस शक्ति का मूल स्थान मूलाधार है।

❖❖❖

मंदिर में परिक्रमा क्यों?

परिक्रमा सृष्टि की मूल प्रकृति है। इसमे उपस्थित हर एक कण परिक्रमा करता है। परमाणुओं में केंद्रक के चारों ओर इलेक्ट्रॉन और ब्रह्मांड में सूर्य के चारों ओर विभिन्न ग्रह परिक्रमा करते हैं। ग्रह के चारों ओर परिक्रमा करते उपग्रह और अपने मन के चारों ओर परिक्रमा करता हुआ मनुष्य। प्रकृति के चारों ओर परिक्रमा करती माया और सत्य के चारों ओर परिक्रमा करती प्रकृति। मनुष्यों के लिए जानने वाली बात ये है कि उन्हें किसकी परिक्रमा करनी है? जब शिव और पार्वती ने अपने पुत्र गणेश ओर कार्तिकेय के सामने यह प्रश्न उठाया कि धरती और आकाश की परिक्रमा करनी होगी, तब कार्तिकेय निकल गये परिक्रमा करने धरती की। वहीं गणेश जानते थे कि हमारा शरीर जिन पाँच तत्वों से मिलकर

बना हैं उसमें धरती ओर आकाश दोनों ही हैं। इसी कारण पास बैठे हुए माता–पिता के चारों ओर परिक्रमा कर उन्होंने धरती और आकाश की परिक्रमा पूरी की और इसी से प्रसन्न होकर शिव ने गणेश को प्रथम देवता घोषित किया क्योंकि गणेश न सिर्फ गुणी और विवेकी थे बल्कि उन्हें तत्वों का ज्ञान भी था।

जीवन में अपनी और दूसरों की इच्छाओं के चारों और परिक्रमा करता मनुष्य जब मंदिर में प्रतिमा के चारों ओर परिक्रमा करता है, तब वह यह बात समझता है कि इच्छाओं की या इच्छुक कि नहीं अपितु इच्छातीत की परिक्रमा की जाती है। प्रतिमा या ईश्वर की अपनी कोई इच्छा नहीं। कभी–कभी मनुष्य अपनी इच्छाओं के वशीभूत होकर ईश्वर की परिक्रमा करता है और कभी–कभी वह ईश्वर को केंद्र मानकर प्रेमवश यह कार्य करता है। चयन महत्वपूर्ण है। पृथ्वी यदि सूर्य की परिक्रमा नहीं करती तो वो ऊर्जा प्राप्त नहीं कर पाती। साथ ही पृथ्वी पर जीवन भी संभव नहीं होता। हालांकि सूर्य और पृथ्वी के संबंध में चयन पृथ्वी का नहीं सूर्य का है क्योंकि इसकी गुरुत्वशक्ति इतनी ज्यादा है कि वो अन्य ग्रहों को स्वयं से बाँधकर रखता है। लेकिन मनुष्य के पास विकल्प उपलब्ध है अब चाहे तो वो अपने मन और बुद्धि के चारों ओर परिक्रमा करें या फिर वह मन और बुद्धि से परे चैतन्य को अपने जीवन का केंद्र मानकर जीवन व्यतीत करे या तो वो अपनी इच्छाओं को केंद्र बनाए या फिर अपनी इच्छा शक्ति को।

❖❖❖

कैवल्य

जब आप पूर्ण सत्य हो जाते हैं, तब आप कैवल्य में प्रविष्ट हो जाते हैं। कैवल्य अर्थात् शरीर शून्यता, बन्धन शून्यता, अहंकार शून्यता। आप इस सृष्टि में चारो ओर फैली हुई शान्ति का ही एक भाग हो जाते हैं एवं आपका स्वयं का कोई अस्तित्व नहीं बचता। सिर्फ शान्ति ही आपका अस्तित्व है। आप वहाँ होते भी हैं उसका भाग भी होते हैं परन्तु उससे अलग भी होते हैं। वही पूर्णता है, उस शान्ति में प्रविष्ट होने के पश्चात आपका चित्त मात्र साक्षी बनकर रह जाता है और आनन्द में पूर्णतया डूब जाता है। यह आनन्द है परमतत्व का आनन्द। निर्गुणता का आनन्द निराकारता का आनन्द, स्वतंत्रता का आनन्द, कुछ भी न होने का आनन्द, हर जगह होने का आनन्द, साक्षी होने का आनन्द, परमशून्यता का आनन्द। यही निर्गुण, निराकार, अविनाशी तत्व ही ईश्वर है जिसे सच्चिदानंद कहा जाता है। अहंकार आपको जकड़ देता है, बांध देता है और अहंकार शून्यता आपको मुक्त कर देती है। वह निर्गुण ईश्वर ही मात्र जानने योग्य और पाने योग्य है। आप आनन्दित तभी हो सकते हैं जब आपकी स्वयं की सत्ता गिर जाएँ। आप इस सृष्टि के ही भाग हो जाएं। आप हर जगह उपस्थित हों, सभी बन्धनों से दूर। याद रखिए ये शरीर भी एक बन्धन है लेकिन एक अवसर भी है। बन्धन से बन्धनहीनता में छलांग का, उस अप्राप्त को प्राप्त कर लेने का।

कैवल्यः- काला संपूर्ण अंधकार, अक्षय शान्ति। हूँ भी इसका ही भाग परन्तु 'मैं' कहीं नहीं, कुछ भी नहीं। रोशनी का अस्तित्व भी नहीं क्योंकि रोशनी शरीरों पर पड़कर उन्हें 'मैं' का भाव देती है। मैं स्वयं उस अंधकार से अलग नहीं मै उसका ही

एक भाग परन्तु 'मैं' कहीं भी नहीं सिर्फ शान्ति, परम शान्ति। सिर्फ 'हूँ'। सिर्फ चेतना ही उपस्थित है। वह सिर्फ महसूस कर सकती है कि वह भी उसी अंधकार का एक भाग है परन्तु वह स्वयं को उसमें कहीं खोज नहीं सकती। वह सिर्फ है।

वह वाह्य जगत की चहलकदमी, गहमागहमी को देख तो सकती है, सुन भी सकती है परन्तु वह शांति में स्थिर है। इस अंधकार में अकेलापन नहीं, अंधकार ही संपूर्णता है, कुछ और चेतनाएँ भी हो सकती हैं, वहाँ यदि वे सम्पर्क करना चाहे तो यहीं पूछेंगी कि 'हो क्या?' एक दूसरे को महसूस भी न किया जा सकेगा सिर्फ सुना जा सकेगा। सामने वाली चेतना यदि जवाब न दे, तो फिर कुछ भी नहीं । वह अंधकार ही मेरा अस्तित्व है, मैं उससे भिन्न नहीं 'हूँ'। वही संपूर्ण भी, अस्तित्व सिर्फ शांति का, पूर्ण शान्ति का।

❖❖❖

गणेश

गणेश जी को एक बुद्धिमान देवता माना गया इसका कारण है जब गणेश जी और कार्तिकेय जी के बीच में यह शर्त लगी कि जो कोई भी धरती के चक्कर लगा कर सर्वप्रथम पहुँचेगा वह जीत जाएगा। कार्तिकेय जी मोर पर बैठकर धरती के चक्कर लगाने निकल पड़े परन्तु गणेश शीघ्रता में न थे। उन्हें इस तथ्य में संशय न था कि 'क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा – पंचतत्व से बना शरीरा'। यदि शरीर इन सभी

तत्वों से मिलकर ही बना है, तो इन्हें ढूँढने और कहीं क्यों जाना? बगल में ही दो शरीर हैं। पिता और माता के और दोनों साथ ही बैठे हैं। यदि घर में गंगाजल रखा हो तो गोमुख तक दौड़ क्यों लगानी? हर शरीर स्वयं में लघु सृष्टि है। अत: कहीं और जाने की जरूरत न थी। आकाश और पृथ्वी की परिक्रमा वहीं की जा सकती थी। अत: उन्होंने शिव और पार्वती की परिक्रमा कर, सृष्टि के सम्बन्ध में अपनी समझ को प्रदर्शित किया। भगवान शिव ने उन्हें विजेता माना क्योंकि उन्होंने वास्तव में तत्व की ज्यादा स्पष्ट रूप से समझा तथा उन्होंने अपनी बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन किया। इसी कारण से भगवान शिव ने उन्हें वरदान दिया कि हर कार्य के प्रारंभ में तुम्हारी अर्चना की जानी चाहिए क्योंकि तुम बुद्धिमान हो और हर कार्यसिद्धि में बुद्धि की आवश्यकता पड़ेगी। तुम्हारी पूजा द्वारा हर व्यक्ति यह समझेगा कि वह बुद्धिमत्ता द्वारा इस कार्य को सम्पादित करे। इसी कारण गणेश जी को प्रथम देवता माना गया व हर मांगलिक कार्यों में उन्हें प्रथम निमंत्रण दिया जाता है कि वे आएँ और कार्य की सिद्धि में सहयोग प्रदान करें।

गणेश जी का सिर एक हाथी का है और हाथी की यादाश्त काफी तेज मानी गई है। वह वर्षों पश्चात भी अपने किसी मित्र या शत्रु को देखकर पहचान सकता है। गणेश जी एक भारी भरकम शरीर के स्वामी हैं लेकिन फिर भी उन्होंने एक मूषक को अपना वाहन बनाना स्वीकार किया। यह पुन: उनकी बुद्धिमता और अहंकार शून्यता को दर्शाता है। उन्होंने मूषक का चुनाव आकार पर नहीं बुद्धिमत्ता पर किया। चूहा भी एक बुद्धिमान जानवर है वह संसार के लगभग सभी हिस्सों में पाया जाता है। वह स्वयं को परिस्थितियों के अनुरूप ढाल सकता है तथा जो भी भोजन प्राप्त हो जाए उससे वह अपनी जीविका चला सकता है। वह तेज है उसे पकड़ना सुलभ नहीं। उसके

अन्दर भोजन को संचय करने की प्रवृत्ति होती है ताकि आपदा काल में संचित भोजन का उपयोग शरीर की ऊर्जा आवश्यकताओं हेतु किया जा सके। एक मूषक का चुनाव इसलिए भी ताकि यह बात समझाई जा सके की शरीर की आकृति पर मत जाना क्योंकि शरीर के भीतर रहने वाली एक ज्योति हाथी में भी वही है जो कि एक चूहे में। शरीर का आकार तो मात्र अहंकारपूर्ति में सहायक होगा परन्तु व्यक्ति को उसके स्वभाव के आधार पर चुनना, न कि उसकी शरीर की क्षमता व अहंकार के भाव पर। एक चूहे को अपना वाहन बना गणेश जी यही सन्देश देते हैं कि तुम्हारी कार्यसिद्धियों में एक बुद्धिमान प्राणी एक भारी भरकम शरीर के प्राणी से ज्यादा सहायक सिद्ध होगा। सदैव बुद्धिमान को प्राथमिकता देना।

यह माना जाता है कि एक भारी भरकम शरीर के स्वामी में बल व आकृति के कारण कदाचित अहंकार भी उपस्थित हो सकता है परन्तु गणेश जी यह भी सन्देश देते हैं कि इस नश्वर शरीर पर बिल्कुल मत जाना, वह देखना जो इस शरीरके होने का कारण है। शरीर की आकृति भिन्न हो सकती है परन्तु शरीर का वास्तविक तत्व तो एक ही है और यह जानना तुम्हारे अहंकार को मिटाने में तुम्हारी सहायता प्रदान करेगा। शिव के बुद्धिमान पुत्र से आप यही अपेक्षा कर सकते हैं।

❖❖❖

दीवाली

दीवाली से जुड़ी चार बातें महत्वपूर्ण हैं। सफाई, लक्ष्मी-गणेश पूजन, अमावस्या व दीप। दीवाली को सफाई से जोड़ दिया गया, कारण यह था कि साल में एक बार घरों और दुकानों की अच्छे से सफाई हो जाए। घर की मरम्मत के काम निबटा लिए जाएँ। दीवारों और आलमारियों पर रंग लगाकर उन्हें सीलन और कीटाणु मुक्त किया जाए। सफाई का स्वास्थ्य से सीधा सम्बन्ध है। यदि घर स्वस्थ होगा तो घर में रहने वाले व्यक्तियों के स्वास्थ्य पर इसका सीधा प्रभाव होगा। लक्ष्मी पूजन द्वारा परिवार अपने आर्थिक लक्ष्यों के पूरा होने की प्रार्थना करता है। गणेश पूजन द्वारा यह प्रार्थना की जाती है कि परिवार में शुभ घटनाओं की प्रधानता हो। दीवाली को अमावस्या के दिन मनाया जाता है जब धरती पर पूर्ण अंधकार होता है। जब धरती चन्द्रमा की शीतल चाँदनी से वंचित होती है और चौथा व अध्यात्मिक रूप से सबसे महत्वपूर्ण है दीपक, जो चारों ओर फैले अंधकार का प्रकृति प्रदत्त संसाधनों अर्थात् मिट्टी से बना दीपक, तेल व रूई से बनी बाती व अग्नि के माध्यम से मुकाबला करता है।

कृष्ण कहते हैं कि यह शरीर क्षेत्र है तो इसमें निवास करने वाली आत्मा क्षेत्रज्ञ और यह शरीर रूपी क्षेत्र आत्मा रूपी प्रकाश से प्रकाशित होता है। अमावस्या पर अँधेरा घना होता है परन्तु एक दीपक भी इस अँधेरे से लड़ने में सक्षम है। दीवाली, अंधकार और दीपक की जुगलबंदी है। ठीक उसी प्रकार जैसे जीवन, आत्मा और शरीर की जुगलबंदी है। मन अंधकार का उपयोग भय पैदा करने हेतु करता है। भय कल्पनाओं से उपजता है, कल्पनाएँ इसी कारण आकार ले पाती हैं क्योंकि सामने उपस्थित चित्र अंधकार के कारण विलुप्त हो चुका है। मन ही भय है, मन की अनुपस्थिति में भय की सम्भावना नहीं। दीपक की चार भाग होते हैं, मिट्टी का पात्र, तेल, रूई की बाती और

प्रकाश। अलग-अलग उपयोग करने पर ये चारों अवयव अलग-अलग कामों को अन्जाम देते हैं। मिट्टी के पात्र में कुछ रखा जा सकता है, तेल का प्रयोग भोजन सामग्री में डालने हेतु, रूई का उपयोग कपड़े बनाने में और अग्नि का प्रयोग सदैव ही भोजन पकाने में किया जाता है। परन्तु एक साथ आने पर ये चारों अवयव मिलकर दीपक का रूप धारण कर लेते हैं।

दीपक भय तो मिटाता ही है साथ ही साथ मार्ग भी प्रशस्त करता है। प्रकाश दो प्रकार का होता है। तरंग रूपी और ज्ञानरूपी; तरंग रूपी प्रकाश हमारे आसपास के वातावरण को प्रकाशित करता है और ज्ञानरूपी प्रकाश मनुष्य के अंतस को प्रकाशित करता है क्योंकि भय वहीं पर छिपा बैठा है, जिस प्रकाश अंधकार रात्रि में छिपा बैठा है। हर मनुष्य असुरक्षा की भावना से ग्रसित है और इसका कारण है उसका अपना मन। अंतस में उपस्थित प्रकाश ही इस असुरक्षा की भावना को दूर कर सकता है। समाज में यह सामर्थ्य नहीं कि वह मनुष्य के भीतर छिपी बैठी असुरक्षा की भावना को दूर भगा सके। इसके लिए हर एक मनुष्य को अपना व्यक्तिगत प्रयास करना होता है। उसका अपना शरीर भी प्रकृति द्वारा ही निर्मित है और इसी कारण उसमें संसाधन भी मौजूद हैं। बस प्रकाश प्रज्ज्वलित होने हेतु सभी अवयवों को एक साथ आना होगा। दीपक तेल में उपस्थित शक्ति को प्रकाश में परिवर्तित कर देता है। मनुष्य अपने भीतर शक्ति को संघनित कर विवेक की ज्योति द्वारा उपलब्ध शक्ति को ज्ञानरूपी परिवार प्रकाश में परिवर्तित कर सकता है और इस प्रकार वह स्वयं को असुरक्षा की भावना, भय और द्वंद्व से मुक्त करता है।

हर एक जीवन एक तैयार दीपक की भाँति है जो अपने प्रकाश का इंतजार कर रहा है। प्रकाश की पूरी संभावनाएँ भी मौजूद हैं और व्यक्ति अपने-अपने स्वभाव के अनुसार मार्ग

का चयन कर स्वयं को प्राप्त शक्तियों को प्रकाश में परिवर्तित कर सकता है। व्यक्ति अपने हर एक जीवन में इसी प्रकाश की ओर धीरे-धीरे बढ़ता रहता है। उसके किसी न किसी जीवन को तो प्रकाशित होना ही है क्योंकि अँधेरा कितना भी घना क्यों न हो, मिटता अवश्य है।

दीवाली का संदेश है कि जीवन में जब कभी अँधेरा घना हो, तब प्रकाश पाने की कोशिश अवश्य करो। हर वो जीवन जो दीपक की भाँति प्रज्ज्वलित हो उठा हो, अपनी अनुभूतियों को समाज हेतु छोड़ता ही है। पुस्तकों के माध्यम से उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। उनका प्रकाश आपको आशा की किरणें देगा और ये किरणें ही आपके आन्तरिक प्रकाश को प्रज्ज्वलित करने में सहायता प्रदान करेंगी इसलिए पुस्तकों के माध्यम से, स्वाध्याय के माध्यम से उनकी अनुभूतियों से परिचित हुआ जा सकता है।

कृष्ण ने सभ्यता को गीता दी, कारण मात्र इतना ही था कि जीवन में जब कभी भी घना अँधेरा आएगा तुम प्रकाश के लिए बेचैन हो उठोगे, प्यास जाग जाएगी। समाधान की खोज प्रारंभ हो जाएगी। किसी मार्गदर्शक की आवश्यकता होगी और तब गीता मार्गदर्शन करेगी।

यीशू, मोहम्मद, बुद्ध, महावीर, नानक सभी ने अपनी अनुभूतियों को एकत्र करके उन्हें सभ्यता को समर्पित किया। सभी जाग्रत पुरुष दोहे, चौपाइयों, सूत्रों और कहानियों के माध्यम से अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करते ही हैं। हर एक दीपक यही तो करता है, अपने समस्त प्रकाश को अपने वातावरण को समर्पित कर देता है। स्वयं के लिए कुछ भी बचा कर नहीं रखता और इसी में दीपक की पूर्णता छिपी है।

होली

होली में एक धार्मिक संदेश और एक आध्यात्मिक संकेत छिपा है। प्रह्लाद ईश्वर के परम भक्त थे। उनके पिता ईश्वर की भक्ति को पसंद नहीं करते थे। उनका कहना था कि यदि भक्ति ही करनी है तो मेरी करो। प्रह्लाद इसके लिए तैयार न थे। प्रह्लाद की बुआ थी होलिका। होलिका को यह वरदान प्राप्त था कि वो एक विशेष वस्त्र पहनकर यदि अग्नि में बैठे तो वह जलेगी नहीं। प्रह्लाद के पिता ने होलिका को आदेश दिया – प्रह्लाद को लेकर अग्नि में प्रवेश करो! उनका मानना था कि होलिका सकुशल रहेगी और प्रह्लाद भस्म हो जाएगा परन्तु हुआ इसका ठीक उल्टा। प्रह्लाद अग्नि से सकुशल निकल आए लेकिन होलिका स्वाहा हो गई। इसका यह संदेश है कि ईश्वर अपने भक्त की रक्षा करते हैं। यदि भय और विश्वास में से किसी एक को चुनना हो तो विश्वास को चुनो क्योंकि विश्वास भय से तुम्हारी रक्षा कर सकता है।

होलिका दहन के अगले दिन होली मनाई जाती है। रंगों को एक-दूसरे के चेहरों पर लगाया जाता है। चेहरा ही हमारी पहचान है और रंग लगे चेहरे अपनी पहचान खो देते हैं। रंगों से भरी भीड़ में कौन क्या है, यह पता नहीं चलता। भीड़ में खड़ा व्यक्ति सिर्फ खुद को ही पहचान सकता है। अब मात्र वही जानता है कि वो कौन है? उसके अलावा भीड़ में और कोई नहीं जानता कि वह कौन है? एक समूह जिसमें सबकी अपनी एक पहचान है रंगों के लगाए जाने के बाद वे अपनी पहचान खो देते हैं। यह अपेक्षा की भीड़ में मेरी एक पहचान हो समाप्त हो जाती है। अपेक्षा की सोच हटते ही व्यक्ति स्वयं को मुक्त महसूस करता है। अब वह अपने व्यक्तित्व को एक तरफ रखकर भीड़ से समान्य रूप से मिल सकता है।

होली को मस्ती से भी जोड़ा जाता है। अब मस्ती वही कर सकता है जो अपने व्यक्तित्व के बोझ तले दबा न हो। जिसे न अपना सम्मान करवाना है और न ही किसी का अपमान करना है। व्यक्ति अब अपने पहचान के जंजाल से मुक्त है। होली की भीड़ में सभी लगभग एक समान दिखाई देते हैं। विभिन्नताएँ गिर जाती हैं। न कोई महत्वपूर्ण और न ही कोई निकृष्ट। सभी खुलकर एक-दूसरे से मिल सकते हैं। सारी कटुता का कारण पहचान ही है और जब पहचान ही न रही तो फिर कटुता का क्या काम? लोग वर्ण, जाति, धर्म और गोत्र के बन्धनों को तोड़कर एक-दूसरे से एक मनुष्य के समान मिल सकते हैं। बाकि दिन तो वे किसी न किसी भूमिका में होते हैं। माता-पिता, पुत्र, अभिभावक, शिक्षक, सम्मानित, सामान्य, अधिकारी वगैरह-वगैरह।

चेहरे पर रंग लगते ही पहचान समाप्त और उसी के साथ सामाजिक अपेक्षाएँ भी समाप्त। अब मात्र वही अपेक्षाएँ बची हैं जो आपके अपने भीतर है। समाज में आपसे कोई भी अब किसी प्रकार की भी अपेक्षाएँ नहीं कर रहा। पहचान मिटने के साथ ही समाज को अदृश्य समझें, अब पूरा का पूरा खेल स्वयं तक सिमट आता है। अपने मन के प्रभाव में आकर अब आप अनियंत्रित हो सकते हैं या फिर आत्मनियंत्रण रखते हुए मस्ती में डूबे रह सकते हैं। अब द्वन्द्व मन और स्वभाव के बीच होगा।

होली के दो स्वरूप हैं – हुड़दंग और मस्ती। हुड़दंगी वे होते हैं जो मन के प्रभाव में आकर खुद पर से नियंत्रण खो बैठते हैं और इस प्रकार दूसरों के लिए समस्या बन जाते हैं और साथ ही अपने लिए भी। वहीं मस्त वे होते हैं जो अपनी पहचान खोते हैं आत्मनियंत्रण नहीं। समाज पहचान बनाता है और होली उसी पहचान को एक दिन के लिए आपसे छीन लेती है। हर एक व्यक्ति समाज में एक अभिनेता की भाँति जीता है।

जब वह किसी न किसी भूमिका में होता है और होली उसी अभिनेता को एक दिन का विराम देती है।

कई लोगों को होली की शाम उदासी भरी महसूस होती है। कारण यह है कि सुबह मस्ती थी और शाम को पुनः अपनी भूमिका में वापस लौटना पड़ रहा है। सुबह समाज और उसके बंधन अदृश्य हो गए थे। शाम को वही समाज अब वापस लौट चुका है। सुबह छूट थी और अब फिर नियंत्रण है। सुबह कोई पहचानने को तैयार न था और शाम को सब एक-दूसरे को ढूँढ-ढूँढकर बधाई देना प्रारंभ कर देते हैं। सुबह हँसी, उल्लास और मस्ती थी तो शाम को अब उदासी है। होली उस एक अवस्था का स्वाद देती है जो योगी को अनुभूत होती है। योग प्राप्त होने पर व्यक्ति अपनी पहचान से मुक्त हो जाता है। अपने व्यक्तित्व के बँधनों से भी अलग हो जाता है। अब मात्र वो बचा रहता है और उसका शरीर और शरीर में रहते हुए उसे अनुभूति होती है कि वो है ही नहीं। अपने व्यक्तित्व के बँधन से मुक्त होते ही व्यक्तित्व भी झूठे प्रतीत होने लगते हैं। खुद को पहचानने के बाद व्यक्ति दूसरों को भी पहचान जाता है। अब न कोई पराया है और न ही कोई अपना। हर एक प्राणी में वह खुद को ही देखता है। यह है योग प्राप्ति की अवस्था और होली इसी अवस्था का परिचय है, इसी अवस्था का स्वाद है।

ज्ञान

ज्ञान हर व्यक्ति का तीसरा आयाम है। प्रथम दो आयाम हैं मन और बुद्धि। प्रथम दो आयामों में आसक्ति न रह जाने पर व्यक्ति, स्वतः ही अपने तीसरे आयाम की ओर अग्रसर हो जाता है। ज्ञान ही अपने वास्तविक स्वरूप से परिचित कराता है। अपने स्वरूप को जानकर ही व्यक्ति स्वामी हो सकता है। तब तक वह कितना ही साधन सम्पन्न व धनी क्यों न हो, रहता वह दास ही है, अपने मन का दास। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् व्यक्ति अपना स्वामी व ईश्वर का दास हो जाता है। इसके माध्यम से अब दिव्य कार्यों को आकार दिया जा सकता है। जो कुछ भी मन और बुद्धि से परे है, वह दिव्य है।

ज्ञान स्वयंभू होता है। वह स्वयं ही उत्पन्न होता है। यत्नपूर्वक उसे प्राप्त करना सम्भव नहीं परन्तु उसके लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण सम्भव है। नागा (नंगा) बाबा के अनुसार आत्मज्ञान प्राप्त करने हेतु दो चीजें आवश्यक होंगी – निष्काम कर्म व निष्काम उपासना।

ज्ञान प्राप्ति का प्रयास ही ज्ञान प्राप्ति के मार्ग में बाधक हो सकता है अथवा बोझ बन सकता है क्योंकि हर प्रयास मन के द्वारा ही संभव है और मन के पार की यात्रा का सारथी मन नहीं हो सकता, हाँ मन का समर्पण अवश्य हो सकता है। यह नियम भी सिद्ध है कि जिस प्रकार के बीज डाले जाएंगे, उसी प्रकार का वृक्ष भी फलित होगा। बेहतर यही होगा कि अपनी सारी ऊर्जा निष्काम उपासना व निष्काम कर्म में लगाई जाए। इसका जो कुछ भी फल प्राप्त होगा वह उचित ही होगा। प्रयास करने से उचित है कि अधियज्ञ के प्रति समर्पित होना। उन पर ही यह छोड़ देना कि क्या उचित होगा क्योंकि जब आप निष्काम उपासना करते हैं तो स्वयं सं सम्बन्धित सारे अधिकार आप ईश्वर को

समर्पित कर देते हैं और वे सदैव उचित निर्णय ही लेंगे। आपके लिए जा भी उचित होगा, वह निश्चित ही उचित समय आने पर फलित होगा। इसके लिए मार्ग का आनन्द लिया जाना ज्यादा आवश्यक है।

ज्ञान विस्मृत हो सकता है परंतु अनुपस्थित नहीं और वैसा ही है हर एक का स्वरूप भी जो विस्मृत हो सकता है परंतु अनुपस्थित नहीं।

❖❖❖

ओम्

ऊँ प्रतीक है सत्य का, ऊँ प्रतीक है शिव का, ऊँ प्रतीक है सुन्दरता का, ऊँ प्रतीक है कृष्ण का, ऊँ प्रतीक है राम का, ऊँ प्रतीक है कबीर का, ऊँ प्रतीक है बुद्ध का, ऊँ प्रतीक है महावीर का, ऊँ प्रतीक है चैतन्य महाप्रभु का, ऊँ प्रतीक है आत्म का, ऊँ प्रतीक है नानक का, ऊँ प्रतीक है क्राइस्ट का, ऊँ प्रतीक है सच्चिदानन्द का, ऊँ प्रतीक है अनश्वर का, ऊँ प्रतीक है निर्गुणता का, ऊँ प्रतीक है निराकारता का, ऊँ प्रतीक है ब्रह्म का, ऊँ प्रतीक है आत्मा का, ऊँ प्रतीक है सत्य की खोज का, ऊँ प्रतीक है अंश का, ऊँ प्रतीक है अंशी का, ऊँ प्रतीक है ब्रह्म ध्वनि का, ऊँ प्रतीक है आनन्द का, ऊँ प्रतीक है प्रेम का, ऊँ प्रतीक है करुणा का, ऊँ प्रतीक है शान्ति का।

ऊँ में तीन अक्षर हैं – 'अ, ऊ, म' जिसका अर्थ है, ऊर्जा अक्षर है और वैसा ही मेरा स्वरूप है। ऊँ में उपस्थित ऊ ऊर्जा को तथा चन्द्रबिन्दु, बिन्दु से लेकर ग्रह, उपग्रह तक अर्थात् पदार्थ को अभिव्यक्त करता है। ऊँ अर्थात् ऊर्जा ही पदार्थ का आधार है। ऊर्जा

नहीं तो पदार्थ नहीं। ऊर्जा कारण है तो पदार्थ कृति। पदार्थ का नियंत्रण दो हाथों में है, पहला प्रकृति के तथा दूसरा मन के।

प्रकृति के नियंत्रण में स्थित पदार्थ चक्र से बँधा है। जैसे मौसम, दिन-रात, ज्वार-भाटा, लेकिन मन के नियंत्रण में स्थित पदार्थ आरंभ और अंत में पड़ा है। जैसे जन्म-मृत्यु, भूत-भविष्य, पुराना दिन – नया दिन, साल का प्रारंभ और अंत, उत्थान – पतन, वरिष्ठ – कनिष्ठ, बड़ा-छोटा।

ऊँ कहता है, जैसे कि ऊर्जा अक्षय है, उसका मात्र स्वरूप परिवर्तित होता है। जिस प्रकार प्रकृति का आदि व अंत नहीं, मात्र चक्र है। उसी प्रकार आपका व्यक्तित्व रूपी भ्रम भी सत्य नहीं क्योंकि आपका वास्तविक स्वरूप भी अक्षय और परिवर्तनशील है। जीवन जन्म से अंत की ओर नहीं, वरन् रूपान्तरण की ओर जाता है। आप कुछ नहीं से कुछ, कुछ से बहुत कुछ और बहुत कुछ से पुनः कुछ नहीं में रूपान्तरित होते हैं। कुछ नहीं और समाप्ति में अन्तर है। प्रकृति में कुछ समाप्त नहीं होता, मात्र रूप परिवर्तित करता है। लेकिन मन के नियंत्रण में रहने पर आप समाप्ति के भय से त्रस्त रहते हैं। मन हमें विश्वास दिलाता है कि प्रकृति से इतर हमारा एक स्वतंत्र अस्तित्व है जो नितांत भ्रामक है और यही भ्रम हमारी सभी समस्याओं की जड़ भी है।

नमस्ते

नमस्ते मुख्यतः एक क्रिया और एक शब्द से मिलकर बना होता है। इस क्रिया में दोनों हाथों की हथेलियों को एक दूसरे से जोड़कर और उसे हृदय के पास लाकर सटाकर शीश झुकाकर नमस्ते कहा जाता है। शरीर के बाएँ और दाएँ अंगों का प्रतिनिधित्व करते हुए हथेलियाँ बाएँ अंग में स्थित पुरुष ऊर्जा और दक्षिण अंग में स्थित स्त्री ऊर्जा को व्यक्त करती हैं। यह शरीर पुरुष और स्त्री नामक दो विपरीत ऊर्जाओं को मिलने से बनता है। हथेलियों को हृदय के पास लाकर हृदय से स्पर्श कराने का तात्पर्य है कि यह शरीर तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक कि हृदय में स्थित कृष्ण जो निर्गुण और निराकार है, इसमें उपस्थित नहीं होते। अर्थात् हृदय में स्थित आत्मा तथा पुरुष व स्त्री ऊर्जा मिलकर इस शरीर का निर्माण करती हैं और इस क्रिया के अंत में शीश को झुका लिया जाता है और झुकाकर नमस्ते कहने का तात्पर्य है कि आपका यह शरीर जो स्त्री और पुरुष ऊर्जाओं से मिलकर बना है तथा जिसके हृदय में स्वयं ईश्वर निवास करते हैं। ऐसे शरीर को मैं सर झुकाकर नमन करता हूँ। **'न म अस्ते'** अर्थात् म अथवा मन का कोई अस्तित्व नहीं। मन द्वारा दी कई मेरी पहचान का भी कोई अस्तित्व नहीं। मेरे समान आप की पहचान भी भ्रामक है अतः अहंकार के निमित्त प्रयास करने का कोई प्रयोजन नहीं। नमन उसे है जो वास्तव में उपस्थित है। सभी के भीतर वह समान रूप से उपस्थित है। शीश को झुकाना समर्पण का द्योतक है अर्थात् ईश्वर की अनुपम कृति जो मेरे सामने उपस्थित है इसमें स्थित ईश्वर को मैं सर झुकाकर पूर्ण समर्पण के साथ नमन करता हूँ।

प्रणाम्

प्रणाम शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। प्रणव + आमि अर्थात् प्रणव का तात्पर्य है ऊँ। ऊँ जो ब्रह्म शक्ति है, ऊँ जो ईश्वर को, परमात्मा को इंगित करता है और आमि अर्थात् मैं हूँ, अर्थात् ईश्वर स्वयं मेरे अन्दर ही निवास करते हैं। वे व्यक्ति जिनको आत्मसाक्षात्कार द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो गई, जिन्होंने जान लिया कि शरीर सिर्फ आभासी है परन्तु सत्य तो आत्मा है – सत्य तो ईश्वर है, शरीर एक माया है। प्रणाम कहने का तात्पर्य है इस ओर संकेत करना है कि इस शब्द का मर्म तो मैंने समझ लिया अब अनुभूति करने की बारी तुम्हारी है। यदि यह अनुभूति मुझे प्राप्त हो सकती है तो यह तुम्हें भी प्राप्त हो सकती है। तुम भी प्रयास करो, तुम भी अपनी आंतरिक यात्रा पर चलो क्योंकि ब्रह्म तुम्हारे अन्दर भी उतने ही उपस्थित हैं जितने यह किसी अन्य प्राणी के भीतर हैं।

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा कि मैं ही सभी प्राणियों के अन्दर अंतरयामी रूप से स्थित हूँ। यत्न करने वाले योगी अपने हृदय में स्थित इस आत्मा को तत्त्व से जानते हैं अर्थात् जिस व्यक्ति ने स्वयं अपनी अंतरात्मा को तत्त्व से जान लिया अब वह यह घोषणा करने के लिए स्वतंत्र है कि अहं ब्रह्मास्मि; प्रणव आमि। इसका मूल उपदेश सिर्फ यह बताना है कि यह एक ऐसी अवस्था है, जिसे योग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु इसके लिए प्रयत्न करना होगा, शरण लेनी होगी, श्रद्धा जगानी होगी, यज्ञ करना होगा, हवन देना होगा, आन्तरिक अग्नि प्रज्ज्वलित करनी होगी, विचारों को आहूति देनी होगी, मन की तरंगों की आहूति देनी होगी। अभीप्सा जागृत करनी होगी, समर्पण आवश्यक होगा और तब जाकर यह अवस्था आपको भी प्राप्त हो सकती है। यह एक कार्य है जो इस जीवन में शेष है। इसे भूलना मत, यह कर लेना क्योंकि यह एक ऐसा ज्ञान है जिसे

जानने के बाद और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। जैसा कि श्रीकृष्ण ने कहा और यकीन मानिये आपकी अनुभूति भी इससे कुछ अलग नहीं होगी।

गीता में श्रीकृष्ण ने इस शरीर की भ्रान्ति पर से भी पर्दा हटा दिया। उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर दी कि ये मत समझ लेना कि तुम ये शरीर हो। ये शरीर तो मात्र एक यंत्र है, एक वाहन क्योंकि इस जगत में आने के लिए यह शरीर लेना ही पड़ेगा। इस शरीर को ही अपना अस्तित्व समझने की भूल न कर लेना। ये मत मानने लगना कि तुम ये शरीर हो। वास्तव में इस शरीर के अन्दर स्थित तुम एक आत्मा हो जो हृदय में वास करती है और यदि इन बातों का अनुभव करना है तो ध्यान में उतरो। इस शरीर की आवश्यकता तुम्हें इस वाह्य जगत और साथ ही साथ आन्तरिक जगत के कार्य सिद्ध करने में होगी। अतः इस यंत्र का रख-रखाव भी तुम्हारी जिम्मेदारी है। इसे मन्दिर की तरह मान लेना, जिसके अन्दर तुम्हारे अराध्य हैं। तु अपनी आंतरिक यात्राएँ, स्वयं को पहचानने की यात्रा भी सुगमता पूर्वक पूर्ण कर सको इसके लिए इस यन्त्र की सुरक्षा और इसका रख-रखाव भी तुम्हारी जिम्मेदारी है और इसके लिए उपाय भी मैं तुम्हें सुझा देता हूँ। इसके लिए ऋषियों ने योग और प्राणायाम की रचना की। योग को परिभाषित करते हुए श्रीकृष्ण ने बताया कि योग का वास्तविक अर्थ है अप्राप्य की प्राप्ति। अन्य ऋषियों ने योग के बारे में अपने अनुभव को बताते हुए कहा कि योग का तात्पर्य है जुड़ना स्वयं से और यह योग सुगमता पूर्वक हो सके इसके लिए प्राणायाम और आसनों की रचना की गई ताकि यह यात्रा अपनी पूर्णता की ओर अग्रसर हो सके। आसन वे सारे व्यायाम हैं जिससे इस शरीर के क्षरण होने की गति को धीमा किया जा सकता है ताकि तुम्हें वह वक्त प्राप्त हो जाए जिसमें तुम अपनी कार्य सिद्धि कर सको। शरीर के विभिन्न अंगों के लिए विभिन्न आसनों का निर्माण किया गया। साथ ही साथ प्राणायाम को इसका मुख्य भाग बनाकर प्रस्तुत किया गया। प्राणायाम का तात्पर्य है प्राण को आयाम

देना अर्थात् श्वास जो प्राण है उसको किस प्रकार दीर्घ किया जा सकता है ताकि इस यंत्र को लम्बे समय तक सुरक्षित अवस्था में रखा जा सके। उसे कार्य योग्य बनाए रखा जा सके। प्राणायाम वास्तव में दो कार्य करता है – प्रथम, प्राणों को आयाम देने का मुख्य कार्य तथा साथ ही साथ मन में उपस्थित विभिन्न विचारों, द्वन्द्व व क्रोध को श्वास के द्वारा शरीर से बाहर निकालकर मन को शान्ति प्रदान करना। विचारों के थमने में अपना योगदान देता है ताकि विचारों के पार जाने की प्रक्रिया सुगम की जा सके। वे व्यक्ति जो प्राणायाम करते है वास्तव में ध्यान में सरलता से उतर सकते हैं क्योंकि ध्यान में उतरना तब सहज हो जाता है, जब मन शान्त हो। उसमें विचारों की तरंगें न उठ रही हों। ग्रन्थियाँ शरीर से बाहर निकल रहीं हों और शरीर स्वस्थ हो। योग को मात्र आसन मान लेना, दोनों के साथ अन्याय होगा क्योंकि योग तो वह क्रिया है जिससे अप्राप्य प्राप्त हो जाए। आत्मा पुनः सुगमता के साथ परमात्मा की ओर गमन कर जाए और यह कार्य सिद्ध हो सके। इसके लिए आसन इस यंत्रवत शरीर को सुचारू रूप से चलाए रखने में अपना योगदान देते हैं। साथ-साथ प्राणायाम मन को थामने में और प्राणों को आयाम देकर अपना भाग पूर्ण करता है।

❖❖❖

ग्रहण में जप-तप क्यों?

कठिन वक्त या ग्रहणकाल अर्थात् स्रोत का कुछ अवधि के लिए बाधित हो जाना। प्रकाश का कुछ समय के लिए अवरुद्ध हो जाना अर्थात् भौतिक कार्यों की सिद्धि में कठिनता। कदाचित शारीरिक और मानसिक कष्ट का होना। प्रयासों का पूर्ण सफल न होना। अच्छी बातों का भी तात्पर्य गलत निकाल लिया जाना।

वास्तव में न सूर्य पर ग्रहण आता है और न ही चन्द्रमा पर। ग्रहण आता है धरती पर। जब असमय पृथ्वी पर अंधकार छा जाता है। चन्द्रमा की शीतलता व सूर्य का तेज पृथ्वी पर नहीं पहुँच पाता। वास्तव में ग्रहण में ही सूर्य और चन्द्रमा पर ध्यान जा पाता है। बाकी दिनों में किसी के पास न सूर्य के लिए ही समय है और न ही चन्द्रमा के लिए। धरती जो समस्त चल-अचल जगत को जीवन व आधार प्रदान करती है, यदि कुछ काल के लिए उसे भी ग्रहण से गुजरना होता है तो यदि इस शरीर और इससे सम्बन्धित कार्यों पर यदि ग्रहण आए, तो विशेष बात क्या?

शरीर दो ही भावों को तो जानता है सुख या दुख। यदि किसी समय पर सुख था तो दुख अवश्य आएगा। ग्रहण या मुश्किल समय भी उसका एक स्वरूप है। ग्रहण के दौरान एकान्त का सेवन करने की, घर से बाहर न निकलने की सलाह दी जाती है। इसका मुख्य तात्पर्य है कि यह एक उपयुक्त समय है, जब घर में बैठकर एकान्त पाकर, थोड़ा आत्मचिन्तन कर लिया जाए। थोड़ा ध्यान कर लिया जाए। स्वयं को विचारों से मुक्त कर लिया जाए। कष्टप्रद समय में कष्टप्रद विचार आने सम्भव हैं तो क्यों न इस वक्त विचारों को ही त्याग दिया जाए। मन को पूर्णतः खाली कर चेतना को छूट दी जाए ताकि वह अपनी सिद्धि को उद्धत हो सके। मुश्किल वक्त है, काम पूर्ण होना कठिन है तो क्यों न किसी शान्त जगह पर बैठकर कुछ भजन ही कर लें। मन में उमड़ने वाले विचारों को एक तरफ कर, इसे एकाग्रचित ही कर लें। यह एक उपयुक्त समय मिला है, क्यों न इसे स्वयं के साथ ही व्यतीत कर लिया जाए। शायद इससे स्वयं को समझने में कुछ सहायता प्राप्त हो सके। ग्रहण के दौरान उपवास का तात्पर्य शरीर को उतनी ही ऊर्जा उपलब्ध कराना है जितनी उसे आन्तरिक अंगों के संचालन हेतु आवश्यक है। एकान्त में तो वैसे भी ध्यान का प्रयोग कर विचारों को अवरुद्ध किया जा रहा है। विचारों से मुक्त होने का, उससे दूर जाने का प्रयास किया जा रहा है। सो विचार और उसके फलस्वरूप होने वाले कर्मों में व्यर्थ

होने वाली ऊर्जा, इस समय अप्रयुक्त है। शरीर को वास्तव में इस काल के दौरान कम ऊर्जा की आवश्यकता है। धारा विपरीत चल रही है। मन में उमड़ने वाले विचार शरीर को कष्ट दे सकते हैं। इन विचारों से ही मुक्त हो जाया जाए। भोजन उतना ही हो, जितनी कि न्यूनतम आवश्यकता है। शरीर को भी थोड़ा आराम मिले पचाने की क्रिया भी थोड़ी शोधित हो सके। शरीर हर रोज किए जाने वाले कार्यों से थोड़ा मुक्त हो सके।

भोजन की ऊर्जा न्यूनतम प्राप्त होने पर मानसिक विचारों को भी पर्याप्त ऊर्जा न मिलेगी। घर से बाहर न जाने पर शारीरिक ऊर्जा भी व्यय कम होगी तो उपयुक्त है कि क्यों न इस ग्रहण काल का पूर्ण उपयोग कर शरीर का ही शोधन कर लिया जाए। मुश्किल वक्त है परन्तु इसके भी तो कुछ फायदे हैं। तीसरी सलाह जब भौतिक तल पर कार्य सिद्धि बाधित है तो क्यों न कुछ आध्यात्मिक यात्रा ही कर ली जाए? क्यों न अपने केन्द्र की ओर गमन करने को समय निकाल लिया जाए? क्यों न कुछ समय भक्ति में लीन हो जाएं? क्यों न इस वक्त उस प्रभु को याद कर लें जो हर वक्त सदैव सहायता करता है और ये वक्त भी उसी ने दिया। यदि समय अनुकूल होने पर मैं उसे कदाचित भूल भी जाऊँ तो यह उचित समय है जब मैं उसका स्मरण कर लूँ। एकान्त में बैठकर अपने वाह्य सम्बन्धों को एक तरफ रख अपने शाश्वत सम्बन्ध को थोड़ा प्रगाढ़ ही कर लूँ। समय तो मुश्किल है परन्तु प्रेम साथ है, वो परम प्रेमी भी साथ है इससे सुन्दर समय और क्या हो सकता है? इस काल का भी पूर्ण आनन्द उठा लिया जाए।

अवतार

अवतार शब्द दो शब्दों के मिलन से बनता है- अव तथा तार। अव अर्थात् अवस्थित, जिस प्रकार अवशेष में से अव को निकाल देने पर मात्र शेष बचता है और अवशेष का तात्पर्य है उपयोग कर लिए जाने के पश्चात् जो कुछ भी बचे। इस प्रकार माया द्वारा उपयोग कर लिए जाने पर, जो कुछ भी माया में अवस्थित हो गया वह है अव। अवतार का तात्पर्य है तारणहार अर्थात् माया में अवस्थित तारणहार। कृष्ण कहते भी हैं कि साधुओं के त्रास को हरने हेतु, दुष्टों का विनाश करने हेतु, उचित समय पर मुझे धरती पर अवतार लेना होगा। माया का प्रकोप कम करके, धर्म की स्थापना करूँगा। वास्तव में हर एक अवतार यही करता आया है। राम ने मर्यादा की स्थापना की, उन्होंने सभ्यता को एक लक्ष्य दिया। उन्होंने यह उदाहरण प्रस्तुत किया कि किस प्रकार एक मर्यादित जीवन जिया जा सकता है।

कृष्ण ने जन्म लेकर स्वयं गीता की स्थापना की। वे प्राणी जो मर्यादाओं पर चलते हुए अपनी यात्रा आगे बढ़ा रहे थे उन्हें एक नए मार्ग की तलाश थी, जो कृष्ण ने उन्हें दिया। उन्होंने बताया कि किस प्रकार गुणों से होते हुए, आप गुणों के पार जा सकते हैं। बुद्ध इस धरती के कर्मकाण्डीय पक्ष की सघनता को विरल करने के लिए अवतरित हुए। उन्होंने सभ्यता को यह संदेश दिया कि सत्य की प्राप्ति तुम स्वयं ही कर सकते हो। इसके लिए तुम्हें किसी और की आवश्यकता नहीं। तुम यदि स्वयं चाहो तो अपनी यात्रा आगे बढ़ा सकते हो। यदि तुम्हें गुरु की आवश्यकता होगी तो तुम्हारे भीतर स्वयं गुरु उत्पन्न हो जाएगा। हर एक अवतार ने जीवनधारा को मोड़ दिया। जब-जब भी वे धरती पर आए स्थापित मान्यताएँ टूट गई। एक नई मान्यता, एक नए मार्ग ने जन्म लिया। जिसपर चलकर अनेक सत्यान्वेशियों ने अपनी यात्रा को आगे बढ़ाया।

सन्यास

सन्यास अर्थात् संतृप्ति प्राप्त करने का प्रयास। संतृप्ति में स्थित तथा स्थिर रहने का प्रयास। सनातन धर्म के वर्णित चारों आश्रमों में से यह अन्तिम आश्रम है। जहाँ मनुष्य अपनी जिज्ञासाओं को शान्त कर, उन पर विजय प्राप्त कर, संतृप्ति पाने का प्रयास करते हैं। संन्यासी और संत में अन्तर मात्र इतना है कि संन्यासी अभी संतृप्ति पाने का प्रयास कर रहा है व संत ने संतृप्ति प्राप्त कर ली है। वह संतृप्त हो चुका है।

वे व्यक्ति जो गृहस्थ हैं, उन्होंने अपनी इच्छाओं को शान्त तो कर लिया परन्तु गृहस्थ आश्रम में उनकी उपस्थिति अपने जीवनसाथी की इच्छाओं व आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु बनी हुई है। वे अपनी जिज्ञासाओं हेतु नहीं, अपने साथी की जिज्ञासाओं हेतु बरत रहे हैं। अपने शरीर से सम्बन्ध मात्र आवश्यकताओं हेतु ही सीमित है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए, वे संतृप्ति हेतु जीवनयापन करते हैं। कामुकता उनके शरीर की आवश्यकता नहीं। काम की इच्छा पहले ही समाप्त हो चुकी है। इस स्थिति में भी, उनका काम में बरतना अपने साथी की आवश्यकता पूर्ति हेतु है।

ग्लास में स्थित पानी में चीनी घोल दिए जाने पर, संतृप्ति प्राप्त करने के पश्चात् पानी क्या करता है? वो और चीनी को घोलने से मना कर देता है। चीनी के वे कण जो घुल न पाए, नीचे ग्लास की तली में एकत्र हो जाया करते हैं। अब जल में उनकी उपस्थिति आवश्यक नहीं। अब जल ने उन्हें अस्वीकार कर दिया। अब जल ने यह घोषणा कर दी कि वह संतृप्त हो चुका, अब और नहीं।

अब वही चीनी किसी और जल में घोले जाने हेतु स्वतंत्र व उपलब्ध है। अब उसी चीनी का उपयोग कर किसी और जल को शरबत के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है।

प्रकृति भी यही करती है, भूमि से अपनी आवश्यकतओं जितना ही पोषक तत्त्व प्राप्त कर, स्वयं द्वारा उत्पन्न, सभी वस्तुओं व फलों का त्यागकर देती है ताकि वह किसी और की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। किसी और को संतृप्त कर सके। न्यूनतम स्तर तक संतृप्ति उसे प्राप्त हो चुकी है, अब और संचय करने की इच्छा नहीं। संचय करने की प्रवृत्ति ही असंतृप्ति की परिचायक है।

संत अर्थात् संतृप्त, मन से संतृप्त, जिज्ञासा से संतृप्त, ज्ञान से संतृप्त, पदार्थ से संतृप्त, कामनाओं से संतृप्त। एक संतृप्त व्यक्ति कर भी क्या सकता है? मात्र इतना कि वह दूसरों को भी संतृप्ति प्राप्त करने हेतु प्रोत्साहित करे। वह उन्हें बताए कि यह एक अवस्था है, जो प्राप्त की जा सकती है। एक संत का स्थान पहाड़ या दुर्गम स्थान नहीं बल्कि उसे तो सभ्यता के बीच आना होगा, लोगों को प्रोत्साहित करने हेतु। यदि वह एकान्तवासी हो जाए तो वह लोगों की किस प्रकार से सहायता करेगा? संतृप्त व्यक्ति का एकान्त में रहने का क्या लाभ? उसे लोगों के बीच जाना होगा। जो कुछ भी सहायता बन पड़े, उनकी आवश्यकताएँ, उनकी इच्छाएँ, उनका मार्गदर्शन इत्यादि, जिस प्रकार भी उनकी सहायता की जा सके, वह उनकी सहायता का प्रयास करे।

❖❖❖

राम नाम सत्य है!

सनातन धर्म में किसी व्यक्ति के शरीर छोड़ने के पश्चात् उसकी यात्रा में एक वाक्य का प्रयोग किया जाता है। वह है 'राम नाम सत्य है!' इसका तात्पर्य राम एक शब्द है। सत्य सदैव ध्वनि पर सवार होकर आता है। ध्वनि एक ऊर्जा है और ऊर्जा कभी नष्ट नहीं होती मात्र ऊर्जा का स्वरूप बदलता है। अर्थात् ऊर्जा सत्य है और सत्य कभी नष्ट नहीं होता इस प्रकार कहने का तात्पर्य उस मृत व्यक्ति से नहीं है क्योंकि वह तो प्रयाण कर गया। इसका तात्पर्य उन लोगों से है जो उस यात्रा में शामिल हैं। ये उन्हें बताने के लिए है कि ये जो व्यक्ति चला गया, भले ही इस बात की खोज न कर पाया हो लेकिन तुम कर लेना। ये भले ही सत्य नहीं ढूँढ पाया हो परन्तु तुम ढूँढ लेना और इस यात्रा में तुम्हारा जो आगमन हुआ है, कम से कम इससे कुछ साकारात्मक घर ले जाना और इस पर चिंतन करना। राम अर्थात् जो राज करे मन पर अर्थात् स्वयं आपकी आत्मा। आत्मा करोड़ों वर्षों व विभिन्न योनियों में जीव के साथ भ्रमण करती है। सदैव मन के साथ बने रहने पर भी मन आत्मा पर नियंत्रण स्थापित नहीं कर पाता। वह जीव को तो सदैव नियंत्रण में रखता है परन्तु आत्मा तक नहीं पहुँच पाता।

राम नाम सत्य है – अर्थात् मात्र आत्मा ही सत्य है। सत्य अर्थात् सर्वस्व त्याग। मात्र आत्मा ही मन द्वारा दिए गए प्रलोभनों को पूर्णतः नकार देती है। वह पदार्थ रूपी शरीर के साथ बने रहने पर भी कभी पदार्थिक आसक्तियों में लिप्त नहीं होती। जिस प्रकार बीज वृक्ष को जन्म देने पर भी कभी मिट्टी के ऊपर अभिव्यक्त नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा भी शरीर का कारण होने के पश्चात् भी स्वयं को कभी प्रकट नहीं करती।

वृक्ष से लेकर जीव तक हर एक प्राणी की उत्पत्ति का कारण एक अहंकारहीन तत्व है, जो सदैव अदृश्य रहता है। उस तत्व की खोज ही जीवन की वास्तविक खोज है। इसी कारण यात्रा में सम्मिलित लोगों को संकेत दिया जाता है कि सत्य को खोज लो वरना बिना सत्य की खोज किए हुए, कहीं ऐसा न हो कि प्रयाण हो जाए।

शिवलिंग

मंदिरों में शिवलिंग की पूजा की जाती है। शिवलिंग सिर्फ एक आकृति नहीं एक संदेश भी है। संदेश उन सभी भक्तों व श्रद्धालुओं के लिए, जिन्होंने कभी न कभी शिवलिंग की अराधना की है। संदेश जरा कठिन है परन्तु साथ ही साथ सरल भी; इसे इस प्रकार से रचा गया है, जो व्यक्ति जिस प्रकृति का हो वह अपना संदेश उसमें से ले ले। उसे वही संदेश मिलेगा जो वो पाना चाहता है। शिवलिंग का सबसे पहला संदेश तो यही है कि आधार पर शक्ति व शिखर पर शिव हैं। अर्थात् आपके शरीर में आधार (मूलाधार चक्र) पर शक्ति हैं व शीर्ष पर (सहस्त्रार चक्र पर) शिव हैं। शिव और शक्ति ही शरीर के दो ध्रुव हैं।

शिव को अर्द्धनारीश्वर कहा गया है अर्थात् शिव और शक्ति का मिला-जुला स्वरूप। शिवलिंग में भी इस रूप का दर्शन होता है। उसके अधार भाग को स्त्री माना गया और लिंग को पुरुष, अर्थात् ये सृष्टि के नवजीवन रचने की क्षमता का द्योतक है।

सृष्टि हर समय, चारों ओर नवजीवन की रचना करती रहती है। यही सृष्टि का मुख्य कार्य है क्योंकि अगर नवजीवन न होगा तो परिवर्तन न होगा और अगर परिवर्तन न हुआ तो जड़ता आ जाएगी। अतः नवजीवन की आवश्यकता है। शिवलिंग की पूजा करने का मुख्य कारण उनका अर्द्धनारीश्वर स्वरूप है। पूर्ण स्त्री के लिए पूर्ण पुरुष शिव। स्त्रियों द्वारा शिव की आराधना करने का कारण यह है कि जिस प्रकार शक्ति को पूर्ण पुरुष प्राप्त हुए, उसी प्रकार उन्हें भी एक पूर्ण पुरुष प्राप्त हो।

मनुष्य के जीवन के हर चरण के लिए चारों पुरुषार्थ 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' शिवलिंग में है। अगर शिवलिंग से आप संदेश चाहते हैं तो चारों पुरूषार्थ के संदेश इससे मिल

जाएँगे। यदि पूजा को हम धर्म मान लें, प्रतिदिन जल व पुष्प अर्पित करना, धर्म हुआ। उनका संदेश ये है कि जिस प्रकार प्रकृति सतत् जल, फल, फूल, औषधियाँ, अन्य, छाँव इत्यादि प्रदान करती है, वैसा ही निष्काम कर्म कर आप प्रकृति से अपना सम्बन्ध पुनः स्थापित कर सकते हैं।

अर्थ - जिस प्रकार पूजन के लिए कुछ सामग्री की आवश्यकता होती है, वैसे ही जीवनयापन करने के लिए कुछ सामग्री आवश्यक होगी। अतः कर्म आवश्यक है। यदि कर्म के साथ लोभ को न जोड़कर संतुष्टि को जोड़ लें, तो कर्म, कर्मयोग में बदल जाता है।

काम – काम अर्थात् सृष्टि की दो विपरीत ऊर्जाओं का मिलन। जहाँ स्त्री व पुरुष रूप में किया गया काम कामनाओं को बढ़ाता है, वहीं शरीर में स्थित शिव तथा शक्ति का मिलन कामनाओं में आसक्ति को समाप्त करता है।

मोक्ष – शरीर में स्थित शिव और शक्ति के मिलन से ही चेतना मुक्त होती है क्योंकि शक्ति चेतना को शिव की उपस्थिति में ही मुक्त करती है।

शिवलिंग पर टपकता जल

आपने देखा होगा कि शिवलिंग के ऊपर मन्दिरों में जल भरा हुआ एक बर्तन लटका हुआ होता है, जिसमें से बूंद-बूंद करके ठीक बीचोंबीच पानी गिरता रहता है। उज्जैन महाकाल के मंदिर में शिवलिंग पर भगवान शंकर की मुखाकृति अंकित है।

शिवलिंग में वह स्थान जहाँ पानी की बूँद गिरती है, वह किसी भी मनुष्य के सिर पर सबसे बीच वाला हिस्सा है, जहाँ पर ब्रह्मरन्ध्र होता है। जिसे सहस्त्रार भी कहते हैं तथा बूँद-बूँद पानी गिरने का तात्पर्य यही है कि इस क्षेत्र को तुम्हें सिंचित करना होगा। इसके ऊपर कार्य करना होगा यही वह स्थान है जहाँ से तुम्हारा ब्रह्म का मार्ग खुलेगा। इस प्रकार शिवलिंग सिर्फ एक प्रतिमा न होकर एक संदेश है।

शिव का एक नाम है भोले। परम तत्व होते हुए भी उनमें भोलेपन का भाव तो देखिए कि वे अपने भक्तों को या हर उस व्यक्ति को जिसने रास्ते से गुजरते हुए शिवलिंग के दर्शन कर लिए हों उसे जीवन से सम्बन्धित अपना संदेश दे दिया।

ज्ञान जहाँ कृष्ण ने गीता के माध्यम से बाँटा वहीं ज्ञान शिव ने शिवलिंग की आकृति के माध्यम से समझा दिया। शिवलिंग से सार्थक कलाकृति दूसरी सम्भव नहीं जहाँ जीवन से परम जीवन तक विस्तार में समझा दिया गया। शिवलिंग की आकृति पर आप ध्यान दें तो उसमें जीवन-नवजीवन के आकार लेते हुए दर्शाया गया है। एक बालक का मुख गर्भ से बाहर आ रहा है। उसके शरीर को जीवन प्राप्त हो रहा है। माता के गर्भ से सम्बन्ध टूट रहा है। अब सांसारिक जीवन की यात्रा प्रारम्भ हो रही है। परन्तु इस जीवन को प्राप्त करने का अभिप्राय क्या है?

शिवलिंग लौकिक तथा अलौकिक दोनों ही जीवन को अभिव्यक्त करता है। लौकिक रूप में यह माता से संतति के जन्म को दिखाता है तथा अलौकिक रूप में प्रकृति के शीर्ष पर स्थित चेतना को दिखाता है, जो प्रकृति से मुक्त हो चैतन्य की ओर गमन कर जाती है।

बूंद-बूंद टपकते जल का आशय है कि यही वह स्थान है जो जीवन से महा-जीवन की ओर ले जाएगा। यहीं चेतना के पहुँचने पर व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप से परिचित हो जाता है। तब उसे अपनी समझ पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। अपने वास्तविक स्वरूप के प्राप्त होने पर जीवन की धारा बदल जाया करती है। इस सदैव प्रवाहित होने वाले ज्ञान को सदैव प्रवाहित होने दो। इस जीवन में यहाँ तक यात्रा तय करनी है। अपने सहस्त्रार तक की यात्रा तय करनी है। यदि तुम यह कर लेते हो तो यह शरीर लेने का प्रयोजन सार्थक हुआ। अब तुम महा-जीवन के द्वार पर हो।

भक्ति

भक्ति अर्थात् मन को भी सत्य प्राप्ति की ओर प्रवृत्त कर देना। ये समस्या को ही साधन बना लेने जैसा है। जो सबसे ज्यादा भाग रहा था, जो भागने में उस्ताद है, जो कभी पकड़ में नहीं आता। उसे घेरकर एक गली की ओर पहुँचा देना है। अब उसके दौड़ने के लिए पूरा मैदान नहीं, बस गली में वो आगे की ओर भाग सकता है। अब उस पर ज्यादा नजर रखी जा सकती है। अब तक वो हमें दूसरों के आकर्षण में फँसाता था, अब हमें उसे खुद के द्वारा चुना हुआ एक विकल्प दे देना है और उसे बता देना है कि यही है आकर्षण। अब इस पर काम करो। वो घोड़ा जो अति ऊर्जावान, पूरे वेग से चारों दिशाओं में दौड़ने वाला था। कभी किसी के हाथ न आने वाला था। उस पर बैठकर उसकी बागडोर अपने हाथ में ले लेने जैसा है। अब तक जमींदार कामगार को परेशान किया करता था, भक्ति कामगार से जमींदार को नियंत्रित करने का उपाय बता देती है।

भक्ति माया को भी साधती है और सत्य को भी। अपनी एक भुजा से ये माया को दूर करती है और दूसरी भुजा से चेतना को आत्मा की ओर ढकेलती है। जैसे एक ही समस्या का द्वि-स्तरीय समाधान हो। नश्वरता से हटाकर आसक्ति को सत्य के साथ जोड़ देती है। जिसका परिणाम है कि साधक सत्य की ओर गमन तो करता है, साथ ही साथ मोह और भ्रम के बंधनों से भी अलग होता जाता है। मोह कहता है, 'मैं हूँ और तुम मेरे हो'। भक्ति कहती है, 'मैं हूँ कहाँ? बस तुम ही हो। ये जो मेरा अस्तित्व है, इसका कारण भी तुम ही हो।'

यही कारण है कि भक्ति अपने आराध्य को पहचानने में भूल नहीं करती, जैसे कि हनुमान ने राम को पहचानने में भूल न की।

भक्ति में संगीत ही ध्यान बन जाता है, वो आपकी चेतना को आकर्षित कर एक ओर ले जाता है। ध्यान मन को बाहरी दुनियाँ से हटाता है। ऊर्जा को एक दिशा मिल जाती है। नाव को एक पतवार मिल जाती है। चारों दिशाओं में विकीर्ण हो रही ऊर्जा, संघनित हो जाती है और चेतना संगीत के पीछे-पीछे एक नई यात्रा पर निकल जाती है। जिस प्रकार सपने में चित्त जो दिखाए, वही देखना होता है। वैसे ही संगीत जिधर ले जाए वहीं जाना होता है।

❖❖❖

हिन्दू

हिन्दुत्व धर्म नहीं पहचान है। पहचान जो हमें यह बताती है कि कहीं न कहीं, किसी न किसी प्रकार से हम धरती के उस भाग से जुड़े हुए हैं, जहाँ पर वेदों की रचना हुई। जहाँ पर उपनिषदों ने आकार लिया, जहाँ पर जीवन में व्याप्त सत्य को ढूँढने का प्रयास प्रारम्भ हुआ।

वह योगी जिसने सबसे पहले यह जानने का प्रयास किया कि सत्य क्या है? यह जीवन क्या है? यह आवागमन क्या है? यह सम्बन्ध क्या है? यह मोह क्या है? यह धन-संपत्ति क्या है? मेरा जीवन जीने का सही तरीका क्या है? बचपन क्यों है? क्यों है जवानी और क्यों है बुढ़ापा? सुख और दुःख क्यों हैं और क्यों वे मुझे सताते हैं? कामनाएँ क्यों हैं, उनकी सन्तृप्ति कैसे है? किस प्रकार उनसे पार जाया जा सकता है?

यह शरीर क्या है और क्या है इसके पीछे का कारण? यह क्यों आकार लेता है और क्यों विनष्ट हो जाया करता है? मैं कौन हूँ? क्या मैं भी यही शरीर हूँ? क्या मैं भी इसके साथ जन्म लेकर इसके साथ ही समाप्त हो जाया करता हूँ? क्या है ज्ञात और क्या अज्ञात तथा क्या है ज्ञान? क्यों है यह सृष्टि और किस प्रकार से इस सृष्टि के रहस्यों को जाना जा सकता है?

भारत वह है जिसने सर्वप्रथम इन प्रश्नों को जाना, प्रश्नों को ही जानना सबसे पहला कदम था क्योंकि यदि प्रश्नों को ही न जाना जाएगा तो उत्तर कहाँ से आएँगे। उन्होंने विभिन्न मार्ग ढूँढे, जिसने इन प्रश्नों के उत्तर तक पहुँचा जा सकता है। किस प्रकार से स्वयं के अस्तित्व को जाना जा सकता है और किस प्रकार से इस जीवन को व्यवसाय से यात्रा और यात्रा से अवसर में बदला जा सकता है। सिर्फ इस स्थान पर रहने वाले और एक धर्म विशेष में जन्म लेने वाले ही हिन्दू नहीं हो सकते। संसार में फैला, हर कोने में स्थित हर वो प्राणी, स्वयं को हिन्दू कह सकता है, जिसने भारत की इन खोजों को जानने में जिज्ञासा व्यक्त की। जिस किसी को भी भारत से कुछ प्राप्त हुआ, जिस किसी ने भी भारत के प्रति आकर्षण महसूस किया और अंततः जिस किसी ने भी सत्य को जानने का प्रयास किया वही हिन्दू है।

❖❖❖

शिवलिंग पर जल अर्पण

शिवलिंग पर जल अर्पित करना सृष्टि के चक्र में भाग लेना है। शिव अपने बाएँ अंग में प्रकृति अर्थात् पार्वती को धारण करते हैं। शिवलिंग पर चढ़ाया हुआ जल उत्तर दिशा से होता हुआ बगीचे में जाकर पेड़-पौधों की क्यारियों में प्रवाहित हो जाता है। उत्तर दिशा से निकलने का कारण यह है कि उत्तर दिशा में ही हिमालय स्थित है और हिमालय है प्रकृति की शरणस्थली। वह जल क्यारियों में उपस्थित पौधों की जड़ों तक पहुँचता है। वही जल फोटो सिंथेसिस की प्रक्रिया द्वारा उन पौधों में भोजन का निर्माण करता है। जल को पाकर पौधे भी उन्नत और बलिष्ठ बनते हैं और इस प्रकार घने होकर, वे छाया प्रदान करते हैं तथा कार्बन डाइऑक्साइड को ऑक्सीजन में बदलने का अपना महत्वपूर्ण कार्य भी संपादित करते हैं। उनकी डालियों पर आया फल मनुष्यों व जानवरों का पेट भरने के काम आता है। उनकी पत्तियाँ जानवरों के भोजन के काम आती हैं अन्यथा वह सूखकर या तो ईंधन के रूप में या फिर खाद के रूप में पुनः मिट्टी में ही प्रवेश कर जाती हैं।

भोजन शृंखला के प्रथम स्तर के जीवधारियों द्वारा खाया गया भोजन जो पेड़-पौधों द्वारा उत्पन्न होता है अंततः विभिन्न चरणों से होता हुआ मनुष्य तक आ पहुँचता है। मनुष्य भी पेड़-पौधों द्वारा बनाया गया भोजन ग्रहण कर अपने शरीर को पुष्टता प्रदान करता है और इसी भोजन से पुष्ट होता हुआ वह अपनी जीवनयात्रा पूरी कर अंततः दाह संस्कार या फिर दफनाये जाने की प्रक्रिया द्वारा इसी पृथ्वी में विलीन हो जाता है।

इस प्रकार शिवलिंग पर जल अर्पित कर वह स्वयं के लिए ही भोजन बनाने का कार्य करता है और वही भोजन जीवनपर्यन्त ग्रहण भी करता है। वर्षा द्वारा पृथ्वी जल प्राप्त

करती है और यही जल पृथ्वी की गहराइयों में प्रवेश कर पीने योग्य हो जाता है या फिर नदियों के माध्यम से होता हुआ, समुद्र तक पहुँचकर पुनः सूर्य की ऊर्जा द्वारा भाप में बदलकर, अंततः वर्षा द्वारा पुनः पृथ्वी तक पहुँचा दिया जाता है। इस प्रकार शिव को जल देना सृष्टि के इसी चक्र का भाग बनना है और यह बात समझना भी कि सृष्टि में सभी कुछ एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। सब कुछ एक दूसरे का विस्तार मात्र है इसलिए शिव को समझने हेतु प्रकृति से जुड़ना होगा क्योंकि प्रकृति स्वयं उनकी अर्धांगिनी हैं तथा वे ही शिव अर्थात् सत्य का विस्तार भी।

❖❖❖

शिव के मस्तक पर चंद्रमा

चंद्रमा शीतलता का प्रतीक है और शीतलता प्रतीक है मन के सीमित या अतिसीमित अतिक्रमण की। पृथ्वी पर जनसंख्या घनत्व उन भागों में अपेक्षाकृत ज्यादा है जो गरम हैं। अमेरिका, यूरोप व रूस उत्तरी गोलार्ध में भूमध्य रेखा से दूर वे भाग हैं जो अपेक्षाकृत ठंडे हैं। इसी कारण इनका जनसंख्या घनत्व भूमध्यरेखा के पास स्थित भागों से विरल है। भारत में हिमालय पहाड़ी भाग है व अपेक्षाकृत ठंडे हैं। गरम मैदानी भागों की अपेक्षा हिमालय पर जनसंख्या घनत्व अति विरल है। जनसंख्या घनत्व सापेक्षिक है, मन की सक्रियता से। मन सदैव ऐसे स्थान ढूँढेगा जहाँ पर वह सहज, सक्रिय व सृजनात्मक हो सकता हो।

एक पुरानी कहावत है कि पैरों को गरम व दिमाग को ठंडा रखो। अर्थात् दिमाग की अपेक्षा पैर ज्यादा सक्रिय हों। मस्तिष्क के ज्यादा ऊर्जा उपयोग करने की स्थिति में, उसकी सक्रियता बढ़ती है। अतिसक्रिय मस्तिष्क मनुष्य की आंतरिक स्थिरता पर प्रभाव डालता है। मन को ज्यादा ऊर्जा प्राप्त होने की स्थिति में, मन आंतरिक शांति पर विपरीत प्रभाव डालता है व चित्त को अस्थिर करता है। मन की सीमित सक्रियता चेतना को पुष्ट करती है। हर एक साधक अपने मन पर ही नियंत्रण रखने का अभ्यास करता है।

शिव कैलास पर वास करते हैं। वहाँ पर मन के करने हेतु कुछ भी नहीं। शिव को बुद्धि के प्रयोग में रुचि नहीं, इसी कारण वे भोले कहे जाते हैं। शिव समाधि में स्थित हुए अपनी पूरी शक्ति चेतना की ओर ही प्रवाहित होने देते हैं। मनुष्य की स्थिति शिव के ठीक विपरीत है। वह अपने मस्तिष्क का अति उपयोग करता है क्योंकि यह विकल्प मनुष्य के लिए सर्वथा सुलभ है। उसे लगता है कि उसके पास बुद्धि है, जिसका उपयोग कर वह मन को संतुष्ट कर सकता है व समाज पर अपनी छाप छोड़ सकता है। वहीं शिव को अपने मन को संतुष्ट करने से कोई प्रयोजन नहीं। न ही बुद्धि का उपयोग कर समाज में अपनी उपस्थिति दर्ज करानी है। वे तो समाज से बिल्कुल कटे, कैलाश पर समाधिस्थ रहना पसंद करते हैं। फिर भी समाज के लिए वे परम पूजनीय हैं। कारण सिर्फ इतना है कि शिव वह करने में समर्थ हैं जिसे करने में समाज स्वयं को असक्षम पाता है और वह है स्वयं पर पूर्ण नियंत्रण। शिव शिखर पर हैं और वे हर एक को निमंत्रण देते हैं कि मुझसे मिलना है तो सभी विषमताओं पर विजय पाकर ऊपर आ जाओ। मेरी स्थिति स्थिर है। तुमसे मिलने को मैं अपनी स्थिति से नीचे नहीं आ सकता लेकिन तुम मुझ तक आने को स्वतंत्र हो। बस उस मार्ग का पालन करो, जिसका मैंने पालक किया और वह है 'आत्म-नियंत्रण'।

कण्ठ पर चंदन

कण्ठ पर चंदन सूक्ष्म शरीर में स्थित 'विशुद्ध चक्र' को इंगित करता है। वास्तव में शरीर पर लगाए गए टीके अथवा चंदन, चक्रों की स्थिति पर ही लगाए जाते हैं। विशुद्ध चक्र सिर और धड़ के मध्य कण्ठ में स्थित होता है। इसके ठीक नीचे हृदय के पास अनाहत चक्र व ऊपर ललाट पर आज्ञा चक्र होता है। शक्ति के विशुद्धि चक्र पर पहुँचने पर योगी कण्ठ में कभी-कभी उठने वाले कम्पनों को महसूस कर सकते हैं। जो प्रारंभ में सुस्पष्ट होते हैं और शक्ति के आज्ञा चक्र की ओर बढ़ने पर क्षीण होते जाते हैं।

स्थूल शरीर पर चंदन के रूप में लगाए गए सभी चिह्न सूक्ष्म शरीर की ओर इंगित करते हैं।

विशुद्धि अर्थात् विजातिय से शुद्धि। विजातीय वह है जो अपना भाग नहीं। शरीर के बाहर विजातिय है पदार्थ क्योंकि पदार्थ बना है, सूर्य की ऊर्जा से। सूर्य की ऊर्जा से ही बँधकर विभिन्न तत्व पदार्थ में परिवर्तित हो एक आकार ग्रहण कर लेते हैं और इस आकार से हमारा सम्बन्ध बनता है मन, बुद्धि व अहंकार के माध्यम से। मन इसी पदार्थ पर नियंत्रण चाहता है। बुद्धि नियंत्रण का मार्ग प्रशस्त करती है व अहंकार इस नियंत्रण को बनाए रखना चाहता है।

विजातिय से शुद्धि का तात्पर्य है मन, बुद्धि व अहंकार का क्रमशः क्षीण होना। अपने स्वरूप के संकेत मिलना प्रारंभ होना। व्यक्ति की द्वंद्व से मुक्त होना प्रारंभ हो जाता है। आनंद का स्वाद मिलना प्रारंभ हो जाता है। मस्ती प्रकट होने लगती है। बाहरी प्रलोभनों व खिंचाव से वह स्वयं को मुक्त होता पाता है।

शक्ति जिस चक्र पर होती है वहाँ उष्णता बढ़ जाती है। चंदन शीतलता प्रदान करता है। इसी कारण साधु चंदन का उपयोग अपने योग सम्बन्धी प्रयोगों में करते हैं। शिव ने सागर मंथन में निकले विष को अपने कण्ठ में धारण किया। विष का प्रभाव उसकी रासायनिक संरचना के कारण है। विज्ञान बताता है कि बढ़ा तापमान पदार्थ की रासायनिक संरचना तथा पदार्थ की अवस्था में परिवर्तित कर सकता है। शिव ने कदाचित कण्ठ की उष्णता को बढ़ाकर विष के हानिकारक प्रभाव को समाप्त किया। शिव ही आदियोगी हैं। विभिन्न यौगिक क्रियाओं के रचनाकार भी। योगियों के लिए पदार्थ की रासायनिक संरचना में परिवर्तन करना सामान्य है क्योंकि वे इसके विज्ञान को समझते हैं।

❖❖❖

शव और शिव

शरीर से चेतना के निकल जाने के पश्चात् उसे शव कहते हैं। शव अर्थात् शक्ति ही वर्तमान है। मन के किसी उपयोग का न होने के कारण शव को प्रकृति के सुपुर्द कर दिया जाता है। प्रक्रिया कोई भी अपनाई जाए, दफनाना, जलाना या कोई अन्य, हर माध्यम से शरीर अपने अवयवों में टूट प्रकृति से पुनः मिल जाता है। प्रकृति ही शक्ति है और शक्ति पूर्णतः वर्तमान में ही स्थित है। शरीर तो प्रकृति से पुनः मिल अपना चक्र पूर्ण कर लेता है परन्तु शरीर में रहते हुए यदि चेतना यह न कर पाई तो वह प्रकृति के चक्र में प्रवेश करने से चूक गई। इस कार्य को करने हेतु उसे प्रकृति की सहायता की ही आवश्यकता होगी। प्रकृति ही उसे पुनः शरीर प्रदान करेगी। जिसके माध्यम से वह पुनः प्रकृति के चक्र में

प्रवेश करने का प्रयत्न करेगी। चेतना का परम गंतव्य प्रकृति के उस पार है। जिसके बारे में कृष्ण कहते हैं कि मेरा वो परमधाम न सूर्य से ही प्रकाशित है, न चन्द्रमा से ही।

शरीर के विभिन्न चरण कहे गए और जन्म से लेकर मृत्यु तक इसे विभिन्न चरणों जैसे बाल्यकाल, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था व वृद्धावस्था में बाँट दिया गया। परंतु शरीर का ये कुछ चरण नहीं वरन् पूर्ण चक्र है। जिसमें बाल्यकाल से पहले व वृद्धावस्था के बाद प्रकृति है। जब शरीर का आरंभ और गंतव्य प्रकृति है तो चेतना प्रकृति से परे रहकर किस प्रकार अपना चक्र पूर्ण कर सकती है? इस प्रकार मनुष्य जो पूर्णता जीवनभर ढूँढता रहता है, प्रकृति से परे रहकर उसे प्राप्त कैसे कर सकता है। मनुष्य विकास में पूर्णता ढूँढ रहा है जो अंततः उसे प्रकृति से जुड़कर ही प्राप्त हो सकती है।

प्रकृति का चक्र है, परंतु मनुष्य शरीर आरंभ से अंत तक जाता है। अंत उसे किस प्रकार से पूर्णता दे सकेगा? मन और बुद्धि तो अंत तक ही जाते हैं, अतः उनके साथ यात्रा तो अंत तक ही जाती है। परंतु यदि मनुष्य जीवन में ही मन और बुद्धि से परे सत्य को ढूँढ ले तो वह काल्पनिक अंत के पहले ही अपने परिपथ को पूर्ण कर लेता है और यह परिपथ पूर्ण होता है प्रकृति के पास, शक्ति के पास, वर्तमान के पास।

शिव अर्थात् शिखर पर वर्तमान है। शिखर अर्थात् मनुष्य शरीर का वह चक्र जो शिखर पर स्थित है अर्थात् सहस्त्रार। सूक्ष्म शरीर में शरीर के वे दो ध्रुव उपस्थित है, जिनके कारण शरीर आकार लेता है। शरीर के दक्षिण दिशा अथवा आधार पर उपस्थित शक्ति व शरीर के उत्तरी भाग अर्थात् शीर्ष पर उपस्थित शिव।

इस प्रकार शिव शरीर से परे नहीं, इसी शरीर में स्थित हैं। प्राणियों का शरीर शिव व शक्ति के बिना आकार नहीं ले सकता। सूक्ष्म शरीर से ही द्विध्रुवीय व्यवस्था प्रारंभ हो जाती है, जो स्थूल शरीर तक आते-आते द्वैत में परिवर्तित हो जाती है। पूरा मायाजाल द्वैत के

चारों ओर ही बुना गया है। शिवत्व अद्वैत में दृढ़ स्थिति है। शरीर में भी शिव की स्थिति दृढ़ है। वे शीर्ष पर हैं। नीचे से ऊपर उठते हुए हर चक्र के स्तर पर व्यक्तित्व व इससे जुड़ी कामनाएँ कमजोर व शक्ति संघनित हो प्रेम में परिवर्तित होनी प्रारंभ हो जाती है।

शिव तक पहुँचते-पहुँचते व्यक्तित्व क्षीण व शक्ति संघनित हो चुकी होती है। जिस क्षण शक्ति शिव से मिल युगल बनाती है, उसी क्षण व्यक्तित्व विसर्जित हो जाता है व चेतना मुक्त हो अपने स्वरूप से परिचय प्राप्त करती है। इसी कारण शिव को महाकाल कहा गया। वह क्षण अथवा काल जब 'मैं' का पूर्णतया हनन हो जाए। वह काल शिव की उपस्थिति के कारण ही संभव हो पाता है। महाकाल अर्थात् मैं का काल अथवा मैं की मृत्यु। इसी क्षण में व्यक्ति जान जाता है कि मैं हूँ ही नहीं। जो है मात्र वह ही है। एक उसकी उपस्थिति के अलावा और किसी की भी उपस्थिति नहीं। मात्र एक वही उपस्थित है और उसके परे शेष सभी भ्रम। शिव ही भ्रम का संहार करते हैं। इसी कारण शिव को संहारकर्ता माना गया। जो सबसे शांत है, वही भ्रम का संहारक भी। इसी कारण हर धर्म शांति को सबसे महत्वपूर्ण मानता है। इस एक तथ्य पर सभी धर्मों के मध्य सहमति है।

प्रकृति को ही प्रेम जानिए। प्रकृति प्रधान होने के कारण ही स्त्रियाँ माँ के रूप में बच्चों को प्रेम से परिचित कराती हैं। माँ के प्रेम का कारण भी प्रकृति में ही छिपा है। प्रकृति अथवा शक्ति की अनुपस्थिति में माँ भी प्रेम न दे पाएगी। शरीर में शक्ति के ऊपर उठने की प्रक्रिया ही तपस्या का परिणाम है। पार्वती ने भी तपस्या के द्वारा ही शिव को प्राप्त किया था।

धर्म व अध्यात्म में अन्तर

जिस प्रकार नदी का अस्तित्व ग्लेशियर से है, वैसे ही धर्म का अस्तित्व अध्यात्म से है। धर्म मार्ग है तो अध्यात्म वह एक समान गंतव्य जहाँ तक सभी धर्म पहुँचते हैं। धर्म विश्वास है तो अध्यात्म ज्ञान। जैसे घर में दो मंजिलों के बीच सीढ़ियाँ होती हैं। वैसे ही धर्म मनुष्यत्व से शिवत्व तक की यात्रा है। साधारण शब्दों में धर्म मनुष्य व ईश्वर के बीच की कड़ी है और इस कड़ी को जोड़ने वाले वे साधक हैं, जिन्होंने आत्मसाक्षात्कार द्वारा पहले स्वयं को पहचाना और फिर स्वयंभू अर्थात् ईश्वर को।

धर्म अध्यात्म की ओर ही इशारा करता है। धर्म वह रेलगाड़ी है जो आरंभ अर्थात् मनुष्य को गंतव्य अर्थात् ईश्वर की ओर लेकर जाता है और रास्ते में पड़ने वाले विभिन्न स्टेशन अध्यात्म के विभिन्न चरण हैं। समाज में प्रचलित विभिन्न धर्म सामाजिक धर्म हैं, जो अपने मूल धर्मों के परिवर्तित रूप हैं। सामाजिक धर्म अर्थात् जब समाज, धर्म में अपनी सुविधानुसार परिवर्तन कर उसे अपना लेता है। आप किसी भी सामाजिक धर्म का हिस्सा न होते हुए भी धार्मिक हो सकते हैं क्योंकि वास्तविक धर्म सम्बन्धित है आपके अपने स्वभाव से। उसके पालन से और उसमें लाई जाने वाली शुद्धियों से। स्वभाव ही वह आइना है, जिसमें व्यक्ति अपने मूल स्वरूप के दर्शन कर पाता है। इसी कारण हर वह व्यक्ति का व्यक्तिगत धर्म अपने स्वभाव पर ही कार्य करता है। वास्तविक धर्म व्यक्तिगत है। सामाजिक धर्म सामूहिक है। हर सामाजिक धर्म मनुष्य का उपयोग, अपनी पहचान को सुदृढ़ करने हेतु करता है। वहीं वास्तविक धर्म मनुष्य को उसकी पहचान से उसके मूल स्वरूप की ओर ले जाता है।

बाहर की दुनिया द्विध्रुवीय है। यह सिर्फ पहचान को ही जानती है। इसी कारण इससे सम्बन्ध बनाने को एक पहचान की आवश्यकता होती है। वहीं भीतरी दुनिया से संपर्क बनाने हेतु अपनी पहचान ही आड़े आ जाती है। भीतरी दुनिया आपकी पहचान को नहीं, आपको जानती है। इसी कारण यह कहती है कि हमसे संपर्क बनाने हेतु खुद की पहचान पर नहीं, खुद को जानने पर कार्य करो। स्वयं से सम्बन्धित जो भी सूचनाएँ हैं, वे सभी अध्यात्म के अंतर्गत हैं। वेदों और उपनिषदों को लिखने वाले ऋषि अपनी पहचान खोकर ही वेदों व उपनिषदों को पा सके।

वर्ण व्यवस्था का आधार स्वाभाविक धर्म था। जिसे बाद में जन्म आधारित बना दिया गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र का धर्म अपने-अपने स्वभाव के अनुसार जीविका का चयन कर जीवन व्यतीत करना था ताकि कर्म ही धर्म बन जाए। स्वाभाविक धर्म के अनुसार किया गया कर्म ही कर्मयोग बन जाता है।

अध्यात्म जीवन के तीसरे आयाम अर्थात् चेतना का विषय है तथा जीवन के अन्य दो आयामों से तीसरे आयाम को जोड़ने वाली कड़ी का नाम है धर्म। कृष्ण ने गीता में जिस धर्म की व्याख्या की है, वह नितांत व्यक्तिगत है। संकेत साफ है, मनुष्य एक सामाजिक प्राणी अवश्य है परंतु उसकी यह यात्रा जिसे वह जीवन कहता है। एक व्यक्तिगत प्रयास है अपने ही अन्य आयामों से जुड़ने का।

धर्म किराए के घर के समान है और अध्यात्म अंतिम आश्रय है। जानना कितना महत्वपूर्ण है, यह इस बात से समझा जा सकता है कि जानकार पायलट के अभाव में जम्बो जेट का उपयोग नहीं किया जा सकता। शरीर क्रिया विज्ञान व अपने औजारों को जानने वाला सर्जन ही आपरेशन कर सकता है। जानकार इंजीनियर के अभाव में मशीनें व्यर्थ हैं। विज्ञान ने प्रगति ही जानकारी के आधार पर की है। पहले जानना, आविष्कार

करना और लोगों को प्रशिक्षित करना ही विज्ञान की सफलता का मूलमंत्र है। खुद को जानकर ही इस सृष्टि को जाना जा सकता है।

जो महत्व विज्ञान में वैज्ञानिकों का है, वही महत्व है अध्यात्म में आत्मज्ञानियों का। एक आविष्कारक है और एक माध्यम। दोनों ही अपने माध्यम से आकार लेने वाली रचनाओं को समाज को अर्पित करते हैं। एक बाह्य जगत का तो दूसरा आंतरिक जगत का वैज्ञानिक है। दोनों ही अपनी-अपनी खोजों, विधियों के बारे में सभ्यता को बताकर उसे समृद्ध करते हैं। एक तकनीकी तौर पर और दूसरा अध्यात्मिक तौर पर। वैज्ञानिक अपनी बुद्धि के माध्यम से ढूँढता है तो योगी अपनी चेतना के माध्यम से।

सामाजिक धर्म समूह में कार्य करने को प्रेरित करता है तो अध्यात्म एकांत में। धर्म सामाजिक स्तर पर प्रत्यक्ष रूप से कार्य करता है तो अध्यात्म परोक्ष रूप से। धर्म कर्मकाण्डों को महत्व देता है तो अध्यात्म ज्ञानकाण्ड को।

धर्म करुणा व दया सिखाता है तो अध्यात्म उन्हें स्वयं में उत्पन्न करना। धर्म सामंजस्य बिठाता है तो अध्यात्म समत्व। धर्म सांत्वना देता है तो अध्यात्म शक्ति। धर्म इन्द्रियों के माध्यम से भीतर प्रवेश करता है तो अध्यात्म भीतर ही जन्म लेता है।

प्रवचन

प्रवचन वे सूत्र हैं जो सिद्ध होते ही हैं। बात और वचन में यह भेद है कि बातें स्मृति व इच्छाओं की होती हैं, निराशाओं व आशाओं की होती हैं लेकिन स्मृति व इच्छाओं के अभाव में क्या होगा? तब होगा मौन। मौन का तात्पर्य है जब अतीत और भविष्य बोलना बंद कर दे अर्थात् मन शांत हो। आंतरिक उथल-पुथल थम चुकी हो। इस अवस्था में शुद्ध बुद्धि द्वारा दिए गए संदेश चेतना तक पहुँच सकते हैं। ये वे शुद्ध संदेश हैं, जिनमें मन और बुद्धि का मिश्रण नहीं। इसी कारण वचन सभी के लिए समान रूप से उपयोगी हैं। जबकि बातें व्यक्तिगत होती हैं। एक की कही गई बातें, दूसरे के लिए उपयोगी या निरर्थक भी हो सकती हैं।

प्रवचन अर्थात् सत्य वचन अथवा बुद्ध वचन। हर बुद्ध सत्य का साक्षात्कार कर अपनी अनुभूतियों को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। विचार वचन नहीं हो सकते क्योंकि विचार बुद्धि से उपजते हैं। हर विचारधारा की एक विरोधी विचारधारा है। अर्थात् हर विचार द्वैत से उपजता है। वहीं प्रवचन द्वैत से परे है। प्रवचन ही स्वाध्याय का आधार बनते हैं और आत्म से प्राप्त होते हैं।

संतृप्ति प्राप्ति के पश्चात् प्राप्त अनुभूतियों को समाज में वितरित कर दिया जाता है। गृहस्थ इनसे प्रेरणा लेते हैं। साधु इनके अनुसार अपने जीवन को ढाल अपनी अध्यात्मिक यात्रा को आगे बढ़ाते हैं। प्रवचन काल परिवर्तन के उपरान्त भी स्थिर रहते हैं अर्थात् ये समय के प्रभाव से परे हैं। हजारों साल पहले के समाज और हजारों साल बाद के समाज के लिए ये समान रूप से उपयोगी हैं। ये वे दीपक हैं जो काल के प्रवाह में प्रज्ज्वलित रहते हैं। बस पीढ़ियाँ आती जाती रहती हैं।

मन को बातों में रुचि है, प्रवचन में नहीं। चेतना को प्रवचन में रुचि है बातों में नहीं क्योंकि वह अपने स्वरूप को प्राप्त करना चाहती है। मन ये कभी नहीं चाहता कि चेतना की उसमें रुचि कम हो। इस कारण वह विभिन्नता को माध्यम बनाता है। वहीं संत को मौन प्रिय है। साथ ही अपनी अनुभूतियों को एकत्र करना भी समाज की उन्नत चेतनाएँ आवश्यकता पड़ने पर उन अनुभूतियों को प्राप्त कर सकें। मन के छोर हैं। एक तरफ है उत्साह व दूसरी ओर है तनाव। जो उत्साह से भरा है, उसे योजनाओं में रुचि है, प्रवचन में नहीं। जो दूसरे छोर पर उपस्थित तनाव से घिरा है, वह प्रवचन में अपने लिए मार्ग ढूँढता है।

❖❖❖

परमपद

गीता में कृष्ण परमपद की चर्चा करते हैं। परम अर्थात् परे म। जो मैं से परे है। पद अर्थात् स्थिति। वह अवस्था जो मैं अर्थात् भ्रम व अहंकार से परे है। कृष्ण बताते हैं कि मनुष्यों की सबसे बड़ी समस्या माया है। ठीक वैसे ही जैसे पक्षी की सबसे बड़ी समस्या जाल या पिंजरा है। जो उसके स्वभाव से सर्वथा विपरीत है। माया चेतना को आकर्षित तो करती है परन्तु वह उसे अपने स्वभाव से सर्वथा विपरीत अवस्था में बरतने को बाध्य भी करती है। पक्षी भोजन की चाह में जाल में फँसकर जीवनभर बंधक रहता है। चेतना आकर्षणों की चाह में शरीर में कैद हो जीवनभर, दुख, संताप, भ्रम, भय और तनाव झेलती है।

कृष्ण कहते हैं कि अपने वास्तविक स्वरूप में लौटना संभव है। इस वास्तविक स्वरूप को ही वे परमपद कहते हैं। जब चेतना भ्रम के जाल को काटकर अपने मूल स्वरूप को पहचान स्वयं को भावनाओं से मुक्त करती है। कृष्ण के अनुसार पिंजरा नहीं, पिंजरे से मोह छोड़ो। मोह छोड़ते ही तुम्हारा पिंजरे में रहना भी सार्थक हो जाएगा। पिंजरों को समस्या नहीं, अवसर जानों। जैसे प्रकृति बाहर बरत रही है, वैसे ही तुम इसमें रहते हुए बरतो। तुम्हारे पास विकल्प है। माया को नहीं प्रकृति की ओर देखो। अपनी यात्रा अपने भीतरी प्रकाश के मार्गदर्शन में तय करो। महत्वपूर्ण व सामाजिक पद तुम्हारे भीतर के भ्रम को ईंधन दे सकते हैं। अतः पद नहीं, आसक्ति को छोड़ो। वास्तविक पद समाज नहीं, स्वयं 'मैं' कृष्ण तुम्हें दूँगा। जिसकी अनुभूति तुम जीवन रहते ही कर सकते हो। इस पद को प्राप्त करते ही तुम स्वयं मेरा स्वरूप हो जाओगे।

महाभारत में अर्जुन से कृष्ण ने ये सभी बातें कहीं। महाभारत प्रारंभ होने से पहले ही उन्होंने इसे तब सिद्ध भी कर दिया, जब उन्होंने बरबरीक की परीक्षा ली और उन्हें शीश का दान देने हेतु पूछा। वे जानना चाहते थे कि बरबरीक की शरीर, बल, अधिकारों, राज्य व भोगों में कितनी आसक्ति है? जब बरबरीक ने स्वयं को आसक्ति रहित सिद्ध किया तब कृष्ण ने उन्हें अपना नाम प्रदान किया और कहा कि तुम पूज्य हो। अब लोग तुम्हारी पूजा करें या मेरी, दोनों में कुछ अंतर नहीं क्योंकि अब तुम ही मैं हूँ और मैं ही तुम। अब मैं और तुम अविभाज्य हैं। हर वह चेतना मुझसे अविभाज्य है, जो आसक्ति रहित है। यही बताने को महाभारत के इस पूरे युद्ध को रचना पड़ा। लेकिन तुम इस बात का मर्म जानते हो। इसी कारण युद्ध में भाग लेने का अब तुम्हारा कोई प्रयोजन नहीं।

❖❖❖

ज्ञानकाण्ड

सनातन धर्म के दो भाग हैं – कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। काण्ड अर्थात् पक्ष, अवस्था, समय। कर्मकाण्ड अर्थात् वह अवस्था जब कर्मों को प्राथमिकता दी जाए। जिस अवस्था में व्यक्ति अपने मन और बुद्धिपर कार्य करे। वह अवस्था जब व्यक्ति अपनी इच्छाओं पर कार्य करे व जगत के बारे में अपने अनुभव, समझ व विज्ञान को बढ़ाए। हर प्रकार के सुख जो उसे ज्ञात हैं, उनका अनुभव प्राप्त करे। सभ्यता, समाज व परिवार का अनुभव प्राप्त करे।

धर्म अर्थात् अपने स्वभाव का अनुसरण करे। समाज व जीवन के द्वन्द्वों से परिचित हो सके। यह पक्ष समस्या का अनुभव देता है। जीवन व स्वयं से सम्बन्धित प्रश्नों को उत्पन्न करता है। इस पक्ष में व्यक्ति गुणों को जानता है। सामाजिक धर्मों द्वारा बनाई गई परंपराओं का पालन करता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह का अनुभव करता है तथा साथ ही उनके प्रतिफल का भी।

ज्ञानकाण्ड में व्यक्ति मन और बुद्धि से परे अपनी यात्रा प्रारंभ करता है। व्यक्तित्व से वास्तविक स्वरूप की ओर गमन करता है। जीवन के दुहराव से जीवन की समझ की ओर बढ़ता है। व्यक्तित्व के मंथन की प्रक्रिया प्रारंभ करता है। विभिन्नता से समानता की ओर बढ़ता है। विज्ञान से ज्ञान की ओर बढ़ता है। मोह से प्रेम की ओर बढ़ता है। साधना के प्रभाव से अंतस में बैठी विभिन्नताओं को गलाना प्रारंभ करता है। कहा गया कि ‘जात न पूछो साधु की’। जाति विभिन्नता की परिचायक है और साधु का प्रयोजन ही सभी विभिन्नताओं को समाप्त कर देना है। जातियाँ समाज में हो सकती हैं परंतु अध्यात्म में नहीं।

आत्म-मंथन द्वारा ही व्यक्ति जिन अवयवों से मिलकर बना है उन अवयवों से परिचित हो पाता है। जैसे मन, बुद्धि, अहंकार, शरीर, चेतना, आत्मा, द्वैत, अद्वैत, तय, समाधि इत्यादि। एक रसोइया मसाले, सब्जियों व अन्य अवयवों को मिलाकर एक स्वादिष्ट भोजन तैयार कर देता है और एक साधु का कार्य भोजन में से उनके सभी अवयवों को छाँटकर अलग कर देने जैसा है। ज्ञानकाण्ड का प्रयोजन ही मिलावट से शुद्धता की ओर जाना है। ऊर्जा से शक्ति की ओर जाना है। ज्ञानकाण्ड मानने नहीं, जानने पर जोर देता है।

ज्ञान के बारे में कृष्ण कहते हैं कि इसके समान पवित्र करने वाली कोई वस्तु नहीं। वेदों व उपनिषदों की रचना ज्ञानकाण्डियों ने ही की और सबसे निरर्थक अपनी पहचान को ही पाया। इसी कारण वेदों व उपनिषदों के रचनाकारों ने अपनी पहचान न स्थापित की। जहाँ ज्ञान होगा, वहाँ पहचान कहाँ संभव है। पहचान तभी तक है, जब तक कि ज्ञान नहीं।

समय के साथ-साथ आश्रम व्यवस्था ध्वस्त हुई तथा साथ में ज्ञानकाण्ड भी। समाज ने गृहस्थ से आगे बढ़ने से मना कर दिया व कर्मकाण्डियों ने कर्मकाण्ड के आगे बढ़ने से।

समाधि

समाधि = सम + अधि

समत्व + अधिकार

समत्व वह समान तत्व है जो सभी प्राणियों में विद्यमान है। वह है उनकी आत्मा। जब प्राणी की चेतना आत्मा के प्रभाव क्षेत्र में प्रवेश करती है। इस अवस्था को समाधि कहते हैं। सामान्यतः प्राणियों की चेतना उनके मन या व्यक्तित्व के प्रभाव में रहती है। मनुष्य की काया और उसके कर्मों को उसका व्यक्तित्व ही नियंत्रित करता है। इस अवस्था में जीवन, व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति और उसका प्रयोग मात्र बनकर रह जाता है। हर व्यक्तित्व की यात्रा आरंभ से अंत तक है। इसी कारण इस धरा पर अरबों व्यक्तित्व उभरे और समाप्त भी हो गए। ठीक उसी प्रकार जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं और थम जाती हैं।

समाधि वर्तमान का स्वाद है। अतीत और भविष्य में परिवर्तन स्वाभाविक है परन्तु वर्तमान परिवर्तन से अछूता है। इसी कारण विभिन्न व्यक्तियों का जीवन कितना भी भिन्न क्यों न रहा हो लेकिन वर्तमान अथवा समाधि का स्वाद सभी को एक समान ही प्राप्त होता है। चेतना ही सत्य है और हर सत्य की खोज का परिणाम भी। समाधि प्रकृति की निश्चिंतता की अनुभूति है। जिसमें व्यक्तित्व के सभी लक्ष्य व महत्वकांक्षाएँ गिरकर, प्रकृति के अविरल प्रवाह के लिए मार्ग खाली कर देती हैं। इस अवस्था में ही चेतना के सभी मूल सम्बन्ध उसे पुनः याद आते हैं। वह अपनी वास्तविक माता और पिता को पुनः पहचान पाती है, अर्थात् प्रकृति और सत्य।

यह पहचान ही उसके अज्ञात के भय और असुरक्षा की भावना से मुक्त कर पाती है। अज्ञान के भय और असुरक्षा की भावना से प्रताड़ित कर ही व्यक्तित्व चेतना को नियंत्रण में रखता है। इससे मुक्ति को ही सनातन धर्म में 'मुक्ति' कहा गया। महर्षि पतंजलि ने समाधि को अष्टांग योग का आखिरी पड़ाव माना। जब चेतना अपने स्वरूप को पहचान चैतन्य से योग प्राप्ति करती है। इस अवस्था में निरर्थक विचारों से मुक्त होकर, चेतना वर्तमान की अनुभूतियों को एकत्र करती है। समाधि में स्थिर होकर ही मनुष्य अपने तीसरे आयाम से परिचित हो पाता है। यह ठीक वैसा ही है जैसे आत्मा को जानने से पहले आत्म को जानना। समाधि सभी विभाजनों, वर्गीकरणों, विभिन्नताओं और विषमताओं को ध्वस्त कर देती है, जो मन और बुद्धि की देन है।

वर्तमान की ही तरह समाधि की कोई स्मृति नहीं होती। इसे स्मृति द्वारा याद नहीं रखा जा सकता। स्मृति उतार-चढ़ाव, घटनाओं और विभिन्नताओं को दर्ज करती है। समाधि वर्तमान का एक समान प्रवाह है।

कृष्ण कहते हैं कि परम को जानने के बाद कुछ और जानना बाकी नहीं रह जाता। उसी प्रकार स्वयं को जान लेने के पश्चात् कुछ और याद रखना आवश्यक नहीं रह जाता। ध्यान दीजिए, प्रकृति के पास कोई स्मृति नहीं, मात्र शांति है। यदि उसकी अपनी स्मृति होती तो मानवता और प्राणी इतिहास में हुए संहार व हिंसा से वह त्रस्त हो चुकी होती। कोई भी प्रकृति के सानिध्य में जाकर शांति लाभ न कर पाता। मनुष्य की बहुत सारी समस्याओं की जड़ उसकी स्मृति में ही छिपी है। स्मृति के कारण ही वह अतीत को खींचकर वर्तमान तक ले आता है और वर्तमान से चूकता चला जाता है।

समाधि में ही व्यक्ति जान पाता है कि कुछ होना तो बंधन है और कुछ भी न होना ही संपूर्णता है। वही संपूर्णता जिसे प्राप्त करने हेतु वह जीवनभर प्रयत्न करता रहता है।

अपने आसपास भागते व्यक्ति किसी स्थल की ओर भागते प्रतीत हो सकते हैं परंतु वास्तव में वे भविष्य की ओर भाग रहे हैं क्योंकि सभी लक्ष्य और महत्वकांक्षाएँ भविष्य में ही हैं। वर्तमान में स्थित व्यक्ति भले ही चलता या भागता दिखे परंतु वास्तव में वो किसी लक्ष्य की ओर नहीं वरन् स्वास्थ्य की ओर भाग रहा है। उसे शरीर से सुख नहीं, कुछ काम लेने हैं। व्यक्तित्व अतीत और भविष्य के प्रतिनिधि हैं और समाधि में स्थित हुआ योगी वर्तमान का।

मोह व आसक्ति के क्षरण से शक्ति संवर्धन होता है। यही शक्ति अंततः चेतना को समाधि की ओर ले जाती है। अतः मोह त्याग आपको भावनात्मक द्वंद्वों से बचता है, साथ ही साथ वर्तमान की अनुभूति की ओर ले जाता है। समाधिस्थ व्यक्ति वर्तमान को अभिव्यक्त करता है। जीवन व घटनाओं का स्पष्टीकरण देता है। सत्य की अनुभूतियाँ प्रस्तुत करता है। परमात्मा सम्बन्धित जानकारियों को साझा करता है परन्तु ईश्वर को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। समयहीनता को किस प्रकार शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकेगा। जब सारे शब्द समय में ही स्थित हैं।

सेवा

ईश्वर प्राप्ति के 6 मार्गों में से एक है सेवा मार्ग। सेवा अर्थात् हर उस प्राणी के लिए समर्पित होना जिसे सहायता की आवश्यकता है। हर वह प्राणी जो अपनी सहायता नहीं कर सकता, सुपात्र है व सेवा किये जाने योग्य है। हर प्राणी के बाहरी दुनिया से सम्बन्ध के दो भाग हैं – आवश्यकता व इच्छा। आवश्यकता वह है जो उसे जीवित रहने हेतु चाहिए। इच्छा वह भाग है जो वह अपने मन को संतुष्ट करने हेतु पूरी करता है। व्यक्ति पहले अपनी आवश्यकताओं पर कार्य करता है और फिर इच्छाओं पर। अपनी इच्छापूर्ति हेतु उसे स्वयं ही प्रयास करने होते हैं। लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियों में वह अपनी आवश्यकताएँ भी पूर्ण नहीं कर पाता जैसे बचपन, बुढ़ापा, बीमारी, प्राकृतिक आपदा, विपरीत परिस्थितियाँ इत्यादि।

सेवा से अंग्रेजी शब्द **Save** अस्तित्व में आया। दोनों ही शब्दों का तात्पर्य एक जैसा है, जो है आपदा से बचाना। अशक्त की मदद सेवा व सामर्थ्य की मदद सहायता कहलाती है। जब व्यक्ति अपनी इच्छाओं हेतु एकत्र संसाधनों को दूसरों की आवश्यकता पूर्ति की ओर मोड़ देता है, तब वह अपने मन के नियंत्रण से निकल अपनी आत्मा की आवाज पर कार्य करना प्रारंभ करता है। मन हमें बतलाता है कि मैंने दूसरों की मदद या सेवा की परंतु वास्तविकता यह है कि मनुष्य हर परिस्थिति में खुद अपनी ही मदद और सेवा करता है। कर्मफल का सिद्धांत सिर्फ इसी कारण कार्य करता है कि वास्तव में चेतना के तल पर विभिन्नता है ही नहीं। इसी कारण हर कर्म अच्छा या बुरा व्यक्ति अपने लिए ही करता है। किसी अन्य की चेतना हेतु किया गया कार्य वास्तव में अपनी चेतना हेतु किया गया कार्य है। इसी कारणवश कर्मों का फल प्राप्त होता है।

प्रकृति के लिए वास्तव में कोई विभिन्नता है ही नहीं इसी कारण चींटी से लेकर मनुष्य तक उसके लिए सभी समान हैं। सृष्टि के इसी सूत्र को जब व्यक्ति जान जाता है तब अस्तित्व के एक गूढ़ रहस्य से वह परिचित हो जाता है।

सेवा सदैव निष्काम है। इसके पीछे कुछ पाने की भावना नहीं छिपी। यह मात्र इस प्रयोजन से की जाती है कि मेरे पास अतिरिक्त संसाधन है, जिनका प्रयोग यदि कोई संसाधन विहीन प्राणी करे तो उपयुक्त होगा। सकाम सेवा, सेवा नहीं योजना है। पुण्य प्राप्ति की योजना। सेवा में बुद्धि का अतिक्रमण नहीं है।

सेवा वह उत्प्रेरक है जो उपभोग को उपयोग में बदल देता है। प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग प्रकृति सम्मत रूप में करना ही सेवा का प्रयोजन है। सेवा वह यज्ञ है, जो मन को विरल करता है। सेवा कर्म सम्बन्धी तप है। करुणा वह शक्ति है, जिससे सेवा रूपी यज्ञ आकार लेता है।

❖❖❖

विवेक

विवेक = विव + इक

विवेचना द्वारा विभिन्नता में किसी एकात्मकता को तलाशना ही विवेक है। विवेक जन्म लेता है शक्ति से। इच्छा शक्ति के संवर्धन से विवेक उत्पन्न होता है। विवेक का शिक्षा से सम्बन्ध नहीं। अतिशिक्षित व्यक्ति अविवेकी और अशिक्षित विवेकी हो सकता है। शिक्षा बुद्धि से आकार लेती है और विवेक आत्मशक्ति से आकार लेता है। विवेकी व्यक्ति का अविवेकी व्यक्ति की अपेक्षा स्वयं पर ज्यादा बेहतर आत्मनियंत्रण होता है। शिक्षित व्यक्ति व्यसनों के जाल में उलझा हो सकता है, वहीं अशिक्षित व्यसन मुक्त हो सकता है। दोनों में अंतर मात्र विवेक का है।

अविवेक आत्मघात के पथ पर ले जाता है और विवेक आत्म नियंत्रण की ओर। विवेक को आत्म साक्षात्कार प्राप्त करने के 6 मुख्य मार्गों में एक माना गया। विवेक से ही अंग्रेजी के शब्द **Wake** की उत्पत्ति हुई, जिसका अर्थ है जागृति। जाग्रत होने का तात्पर्य है चेतना का जन्म लेना। जब चेतना अपनी गहरी नींद से जाग उठती है। विवेक विभिन्नता मिटाने और अंतर को पाट देने में सक्षम है। विवेक के अभाव में जीवन की विवेचना संभव नहीं। विवेचना के अभाव में जीवन के द्वन्द्वों में उलझकर रह जाने का खतरा है। यह ठीक वैसा ही है जैसे दलदल में फँसे व्यक्ति को बाहर निकलने के तरीके के बारे में पता न होना।

विवेक रूपी तीर में विभिन्नता रूपी बाधाओं को गिरा देने की सामर्थ्य होती है। मनुष्य की सभी समस्याएँ विभिन्नताओं की उपस्थिति के कारण ही जन्म लेती हैं। वह जीवन

में समस्याओं से नहीं, वरन् विभिन्नताओं से लड़ता हुआ व्यस्त रहता है। इस प्रकार वह अपने संसाधन, समय और सामर्थ्य को व्यर्थ करता रहता है। विभिन्नताएँ उसे जीवन में भ्रामक लक्ष्य देती हैं। इन भ्रामक लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु वह बुद्धि का आवलम्बन लेता है। लक्ष्य कदाचित समय के साथ धीरे-धीरे प्राप्त हो जाते हैं परन्तु इस प्रक्रिया में मनुष्य स्वयं को बुद्धि के जाल में बाँध लेता है। भविष्य में आने वाली हर समस्या को वह बुद्धि के द्वारा ही हल करने का प्रयास करता है। बुद्धि मात्र दो ही पक्ष जानती है – सफलता और असफलता। इस प्रकार व्यक्ति जीवनभर सफलता और असफलता रूपी पाटों के बीच ही दौड़ता रह जाता है और अपनी वास्तविक खोज से चूक जाता है।

विवेक के माध्यम से व्यक्ति जीवन के एक बड़े भाग पर नियंत्रण स्थापित कर सकता है। अन्यथा जीवन तो अनियंत्रित हो भागता ही रहता है। विवेक जीवन की प्राथमिकताएँ बदल देने की शक्ति रखता है। अविवेकी के लिए जो महत्वपूर्ण है विवेकी के लिए वह बिल्कुल भी महत्वपूर्ण नहीं हो सकता है। इस प्रकार वह अपनी बहुत सी ऊर्जा को व्यर्थ होने से बचा लेता है।

आतंकवाद और चरमपंथ की सारी समस्या ही अविवेक से उपजती है। जब किसी व्यक्ति को यह विश्वास दिला दिया जाए कि तुम्हारा वर्ण, धर्म, जाति, समूह या सम्प्रदाय श्रेष्ठतम है और इसी कारण यह बाहरी आक्रमणों से ग्रसित है। इसकी रक्षा करना तुम्हारा धर्म है। यदि व्यक्ति अपने विवेक का आवलंबन न ले तो ऐसी उत्तेजक विचारधारा से वह प्रभावित हो सकता है। इस दशा में अपना नियंत्रण उसके अपने हाथों से निकलकर ऐसे मस्तिष्क के पास चला जाता है जो घृणा, हिंसा व दमन से

भरा है। ऐसे समूहों में व्यक्ति भले ही अनेक दिखाई दे लेकिन एक मस्तिष्क ही उनका भाग्य विधाता बन बैठता है।

वहीं विवेक विचारधाराओं से प्रभावित नहीं होता। वह मात्र सत्य को प्राथमिकता देता है। वह सदैव अपनी बात को सामने रखेगा, इस बात से प्रभावित हुए बिना कि उसकी बातों का स्वागत होता है या आलोचना।

सुकरात ने अपनी बातों को सदैव निर्भीक रूप से सामने रखा। ईसा भी अपनी बातों को व्यक्त करने से कभी न हिचके। दोनों की ही बातों को तत्कालीन समाज स्वीकार न कर सका। उन्हें मिटा दिया गया लेकिन उनकी बातें न मिटीं। वे दो हजार वर्षों से आज भी समाज को झकझोर रही हैं। यह स्पष्ट करता है कि उन्मादी समाज मिट जाते हैं लेकिन विवेक जीवित रहता है क्योंकि वास्तविकता में वही एकमात्र जीवित है। भ्रम और अँधेरा मिटता ही है। न अँधेरा ही सूर्य के पास जा सकता है और न भ्रम ही विवेक के पास।

शव का दहन क्यों?

शरीर पदार्थ से निर्मित है और पदार्थ ऊर्जा से। $\mathbf{E = mc^2}$ नामक सूत्र बताता है कि ऊर्जा व पदार्थ परस्पर रूपान्तरणीय हैं अर्थात् ऊर्जा को पदार्थ में और पदार्थ को ऊर्जा में परिवर्तित किया जा सकता है। आकाशगंगा का ऊर्जा स्त्रोत सूर्य है। सूर्य अग्नि है और अग्नि से ही विभिन्न तत्व आकार लेते हैं। विभिन्न तत्वों को पुनः अग्नि रूपी ऊर्जा ही परस्पर बंधों में बाँधकर, पदार्थ और फिर शरीर का रूप प्रदान करती है। इस प्रकार शरीर कुछ और नहीं, मात्र ऊर्जा का एक वृहद पिण्ड है। भारत के अलावा विश्व के कई अन्य हिस्सों में शरीर को अग्नि को समर्पित किया जाता रहा है। शव का दहन पदार्थ को पुनः ऊर्जा में बदलने का प्रयोग है।

वेदों में अग्नि के सम्बन्ध में अनेक श्लोक लिखे गए। शरीर द्वैत से बँधा है। जीवित अवस्था में यह उपयोगी व आकर्षक है व मृत अवस्था में अनुपयोगी व अनाकर्षक। जीवित अवस्था में यह दुर्गंध उत्पन्न करता है परन्तु स्नान व सुगंधों के द्वारा इसे सुगंधित बनाए रखा जा सकता है। मृत्यु के पश्चात् इसके विघटन की प्रक्रिया अति तीव्र हो अति दुर्गंध उत्पन्न करती है। सुगंध व दुर्गंध दोनों ही रासायनिक संरचनाओं के कारण हैं तथा अग्नि सभी रासायनिक संरचनाओं को तोड़ देती है।

शरीर को अग्नि को समर्पित करना उसके चक्र को पूर्ण करना है। ऊर्जा से बना शरीर पुनः ऊर्जा के रूप में ही प्रकृति में विलीन हो जाता है। शरीर को दफनाने पर भी वह पुनः अपने अवयवों व ऊर्जा में ही टूटता है परंतु यह प्रक्रिया अत्यंत लम्बी है।

मन मोह रूपी बंधन का उपयोग शरीर के माध्यम से ही करता है। जब वह शरीर से मोह रखता है तो उसके अवशेषों से भी मोह रख सकता है। अग्नि-संस्कार की स्थिति

में शरीर का अत्यंत थोड़ा भाग ही बचता है जिसे नदी में प्रवाहित कर दिया जाता है। जिससे शारीरिक अवशेषों से मोह तो छूट जाता है और मृतक का व्यक्तित्व मात्र स्मृतियों तक सिमट कर रह जाता है। सनातन धर्म ने अग्नि के माध्यम से सूर्य के पृथ्वी से सम्बन्ध व जीवन में उसके महत्व व उपयोगिता को समझा। इसी कारण अधिकतर संस्कार अग्नि को ही साक्षी मानकर किए जाते हैं। सनातन धर्म अग्नि को पवित्र मानता है। शव को अग्नि से मिलाना, अशुद्धि को पवित्रता से मिलाना है। दहन प्रक्रिया में उपस्थित व्यक्ति शरीर की क्षणभंगुरता से परिचित होते हैं। इस प्रकार उनके अहंकार का सामना वास्तविकता से होता है। कई संन्यासी श्मशान को ही अपना अस्थायी निवास बना लेते हैं और इस प्रकार वे शरीर से सम्बन्धित मोह व अहंकार से मुक्त होना चाहते हैं।

जिसे मनुष्य पुराना व नया शरीर समझता है उन्हीं तत्वों को प्रकृति एक चक्र के समान चलाती रहती है। चक्र का कोई भाग पुराना और अन्य भाग नया नहीं हो सकता, चक्र तो चक्र ही है। वर्तमान में किसी मनुष्य के शरीर में उपस्थित अवयव कालान्तर में किसी अन्य प्राणी के शरीर में स्थित हो सकते हैं। मांसाहारी तो प्रायः ही किसी प्राणी के शरीर का भक्षण कर उसे अपने शरीर का भाग बना लिया करते हैं। दहन प्रक्रिया को यदि गहनता से देखा जाए तो पता चलता है कि शरीर को अपना भाग मानना व उसे अपने अहंकार से जोड़ना मात्र एक भ्रमजाल है।

धर्म में प्रयुक्त कर्मकाण्डों का प्रयोजन ही मनुष्य के भ्रमजाल पर सतत् प्रहार करना है। धर्म कर्मकाण्डों के संदेशों को छुपाता है ताकि मनुष्य अपने विवेक के प्रभाव से उन संकेतों को ढूँढ सके।

सनातन धर्म ने जाना कि शरीर की यात्रा अग्नि से ही प्रारंभ है। अतः उसे अग्नि को ही अर्पित करना यथेष्ट होगा। शरीर एक आकार है, इस आकार का आरंभ और अंत तो है परंतु उस पदार्थ का नहीं। जिससे यह शरीर बना है। पदार्थ ऊर्जा से अपनी यात्रा प्रारंभ कर ऊर्जा में ही परिवर्तित हो जाता है और जहाँ तक ऊर्जा का प्रश्न है, विज्ञान बताता है कि ऊर्जा को नष्ट नहीं किया जा सकता। वह मात्र अपना रूप परिवर्तित करती है।

जिस प्रकार हर साल ऋतुकाल का आरंभ और अंत तो है परन्तु मौसम के चक्र का नहीं। वह सदैव चलायमान है। आरंभ और अंत चरण से सम्बन्धित है, चक्र से नहीं। इसी प्रकार धर्म जीवन की ओर इंगित करता है कि जीवन मात्र एक चरण है। इसके संकुचन को नहीं, विस्तार को जानो। उपाय करो कि इसके विस्तार से परिचित हुआ जा सके। चरण में उलझे न रहकर इसके चक्र में प्रवेश करने का यत्न करो। अवसर को महा-अवसर में परिवर्तित कर दो।

देवी स्थल पहाड़ों पर क्यों?

इस प्रश्न में तीन बातें महत्वपूर्ण हैं। देवी, पहाड़ और क्यों?

देवी अर्थात् देव + ई। देव अर्थात् गुण व ई अर्थात् शक्ति। वह स्त्री जिसने अपनी शक्तियों का उपयोग एक विशेष गुण को निखारने में किया। जैसे शीतला देवी ठंडक प्रदान करती हैं, मनकामना देवी कामना, वैष्णवी जीवन की विपत्तियों को हटाने के लिए, कुलदेवी कुल की रक्षा के लिए इत्यादि। नवरात्रि की नौ देवियाँ अलग-अलग प्रयोजनों को पूर्ण करने हेतु जानी जाती हैं।

गुणों के आधार पर देवियों के रूप व पहचान अलग-अलग हैं परंतु उन सभी का स्त्रोत मात्र एक है और वह है शक्ति। यह इंगित करता है कि सभी गुण प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं। श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि जो प्रकृति द्वारा ही सभी कार्य होते देखता है, वही यथार्थ देखता है। गुणों व ऊर्जा की अनुपस्थिति में कोई भी कार्य आकार नहीं ले सकता और दोनों ही प्रकृति द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार प्रकृति से ही विभिन्नता उत्पन्न होती है और मन, प्रकृति की इसी विशेषता का उपयोग विभिन्न व्यक्तित्व गढ़ने में करता है।

यह जानने योग्य तथ्य है कि सभी देव-देवियाँ द्वैत में ही स्थित हैं। द्वैत अर्थात् प्रकृति के इस पार। पार्वती को देवी नहीं, माता कहा जाता है। दुर्गा व काली, माँ पार्वती के ही विभिन्न रूप हैं, जो उन्होंने किसी विशेष अवसर पर धारण किए।

पहाड़ दो बातों के लिए जाने जाते हैं – प्रकृति व शांति। पहाड़ों की दुर्गमता ही उन्हें प्रकृति के लिए सुरक्षित बनाती है। मन सुगमता ढूँढता है। इसी कारण वह पहाड़ों से

दूर रहना चाहता है। मन वन्य जीवों से डरा हुआ है व पहाड़ों की शांति से ऊबा हुआ। मन समतल इलाकों से जंगल साफ करता जा रहा है क्योंकि उसे लाभ चाहिए। पेड़ों को काटकर व जंगल की भूमि को बेचकर वह लाभ कमा सकता है। लाभ के किसी भी अवसर से वह चूकना नहीं चाहता। पहाड़ प्रकृति के आश्रय स्थल हैं। प्रकृति वहाँ स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्त होती है। जनसंख्या बढ़ने के साथ-साथ पर्वत प्रकृति के स्वाभाविक निवास स्थान बनकर रह गए हैं। पहाड़ों पर बिखरी प्रकृति ही मैदानी इलाकों के पर्यावरण व मौसम को सुरक्षित रखती है। जीवन संघनित है मैदानी इलाकों में लेकिन अपनी जीवनयात्रा के लिए वह पर्वतों पर ही निर्भर है। ठीक उसी प्रकार जैसे बच्चे कहीं भी रहें लेकिन माँ उनके भोजन, वस्त्रों व सुरक्षा के लिए सदैव कार्यरत रहती है।

देवी स्थल पहाड़ों पर बनाने का सुस्पष्ट कारण है और वह है मैदानी इलाकों की सभ्यता का पहाड़ी इलाकों से सम्बन्ध बनाना। धार्मिक यात्राओं के लिए जब व्यक्ति पहाड़ों पर जाता है तो वह प्रकृति को अपने सुन्दरतम स्वरूप में देखता है। पहाड़ों की दुर्गमता से परिचित होता है व साथ में उनकी शांति से भी। पहाड़ों की दुर्गमता देख वह जान जाता है कि शांति तक पहुँचने हेतु दुर्गमता से गुजरना ही होगा। यह वही दुर्गमता है जिस के बारे में कृष्ण कहते हैं कि ईश्वर तक पहुँचने हेतु किया गया साधन प्रारंभ में विष के समान प्रतीत होता है परन्तु परिणाम में वह अमृत तुल्य है।

धर्म का उदय शांति से ही होता है और उसी शांति तक वे अनुयायियों को लाना चाहते हैं। शांति एक स्त्रीलिंग शब्द है और संसार में उपस्थित एकमात्र स्त्री प्रकृति है। जिस किसी स्त्री या पुरुष को शांति से परिचित होना है उसे प्रकृति स्वरूप ही होना होगा।

वास्तव में अध्यात्म का जन्म भी शांति से ही है। शांति से आवृत हुए बिना अध्यात्म प्रकट नहीं हो सकता। अध्यात्म को ढूँढते हुए ही साधु व साधक पहाड़ों की ओर सदैव से गमन करते रहते हैं। यदि बाहर प्रकृति हो तो भीतर शांति के उतरने की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं। साधकों की तपस्या का तात्पर्य मात्र प्रकृति से संबद्ध होना है ताकि प्रकृति उनके माध्यम से अभिव्यक्त हो सके, जैसे वह वृक्षों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। ईश्वर के सबसे निकट प्रकृति ही है और प्रकृति से सम्बन्धित होते ही साधक ईश्वर के निकट पहुँच जाता है। प्रकृति से सम्बन्धित सभी रहस्यों तक उसकी पहुँच बन जाती है। उसके माध्यम से वे सभी रहस्य सभ्यता तक पहुँचते हैं। जैसे वृक्ष प्रकृति के माध्यम मात्र हैं। वैसे ही साधक स्वयं के द्वारा प्रकृति को अभिव्यक्त होते देखता है। इसी अवस्था को 'दृष्टा' कहा जाता है। ईश्वर को साक्षी, आत्मज्ञानी को दृष्टा व मनुष्य को कर्ता कहा गया।

पहाड़ों की दुर्गमता देख वह जान जाता है कि शांति तक पहुँचने हेतु दुर्गमता से गुजरना ही होगा। ये वहीं दुर्गमता है जिसके बारे में कृष्ण कहते हैं कि ईश्वर तक पहुँचने हेतु किया गया साधन प्रारंभ में विष के समान प्रतीत होता है परन्तु परिणाम में वह अमृत-तुल्य है।

राम का जन्म कृष्ण से पहले क्यों?

राम का जन्म 7000 वर्ष पूर्व तो कृष्ण 5000 वर्ष पूर्व अवतरित हुए। राम सतयुग में तो कृष्ण द्वापर में उपस्थित हुए। दोनों समयकालों में करीब 2000 वर्षों का अंतर है। राम ने रावण का वध किया और कृष्ण ने कंस का। राम की एक स्त्री थीं, तो कृष्ण की 16108 रानियाँ। राम को मर्यादा पुरुषोत्तम कहा गया तो कृष्ण को नटखट माखनचोर। राम रामायण के माध्यम से तो कृष्ण गीता के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। राम ने एक बार वनवास भोगा, तो सीता ने दो बार। एक बार वे स्वेच्छा से पति के साथ गईं तथा दूसरी बार पति की आज्ञानुसार। राम की राज्य चलाने की व्यवस्था आदर्श मानी गई। राम, लक्ष्मण और भरत तीनों ही लोभ से पूर्णतया मुक्त थे। राम ने पिता की आज्ञा से राज्य छोड़ा तो लक्ष्मण ने भाई का साथ देने हेतु। वहीं इस घटनाक्रम से खिन्न भरत ने राजमहल छोड़ कुटिया का रुख किया और वहीं से राज्य चलाया। हनुमान ने राम को अराध्य मान पूरा जीवन उनकी भक्ति में व्यतीत करने का निश्चय किया। राजकुमारी होने के पश्चात् भी सीता ने अपना प्रकृति स्वरूप न छोड़ा व जीवन अधिकतर समय वन में व्यतीत किया। राम ने एक स्त्री व्रत का पालन किया। आवश्यकता पड़ने पर पत्नी व गर्भस्थ बच्चों से मोहभंग किया। लक्ष्मण की पत्नि उर्मिला ने अकारण चौदह वर्षों का पति वियोग सहन किया। राम ने माता कैकेयी के प्रति मन में दुर्भाव न आने दिया। कैकेयी ने अपने लोभ का फल पति वियोग, जीवनभर पश्चाताप की अग्नि में पुत्र द्वारा उपेक्षा के रूप में भोगा। कौशल्या व सुमित्रा ने पुत्रों को चौदह वर्षों हेतु वन गमन करते देखा। राजा जनक ने पुत्री सीता को जीवन का अधिकतर समय वन में व्यतीत करते देखा। दशरथ ने पुत्र वियोग व पश्चाताप से

पीड़ित हो, शरीर का त्याग किया। प्रजा ने तीन राजकुमारों को चौदह वर्षों तक वन में रहते देखा। जटायु ने सीता को बचाने हेतु प्राणों को त्यागा। लव-कुश राजकुमार होते हुए भी वन में जन्में व पले बढ़े।

रामायण काल में काफी कुछ हुआ, जिसने सभ्यता के अंतस को झकझोर दिया। उन्होंने ऐसे उदाहरण को घटते देखा जो अभूतपूर्व था। जो यह बता रहा था कि इच्छा नहीं, इच्छाशक्ति महत्वपूर्ण है। सभ्यता ने देखा कि लोभ और मोह को महत्ता नहीं दी गई। सुविधा ही नहीं, स्वाभाविक दृढ़ता व धर्म को चुना गया। दोनों ने मिलकर जो उदाहरण प्रस्तुत किया उसे रामराज्य कहा गया। सभ्यता को उदाहरण मिल चुका था। स्वयं पर कार्य करने को काफी कुछ था। स्वयं पर कार्य करने को 2000 वर्ष मिले।

फिर आए कृष्ण; जिनमें राम सी गंभीरता नहीं अपितु नटखटपन था। जिनकी लीलाओं की गोप और गोपियाँ दिवानी थीं। पहली बार स्त्री, पुरुष, बच्चे, बड़े, वृद्ध, जन्तु व वृक्ष किसी एक से ही प्रेम कर रहे थे और बदले में प्रेम पा भी रहे थे।

बाल्यकाल ने कृष्ण को नटखट, आनंदित, प्रेमी, रक्षक, सखा रूप में देखा तो युवावस्था ने शांतिदूत, विराट स्वरूप, चतुर्भुज स्वरूप, मित्र, सारथी, प्रेमी व गीता कहने वाले गुरु के रूप में।

कृष्ण ने अर्जुन को चुना क्योंकि वे गीता को प्राप्त करने हेतु तैयार हो चुके थे। साथ ही साथ उनमें बहुत सी चेतनाएँ भी तैयार हो चुकी थीं, जिन्हें भविष्य में गीता की आवश्यकता पड़नी थी।

राम के रूप में परमात्मा ने, सभ्यता को गोद में उठाया तो कृष्ण के रूप में हाथ पकड़कर पैरों पर चलना सिखाया और कहा कि कभी गिरना तो गीता का सहारा ले

पुनः उठ खड़े होना। मैं अपने मूल स्वरूप में उपस्थित हूँ परन्तु तुम जिस स्वरूप में चाहो, वैसा नहीं हो सकता लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। जो भी आगे बढ़ना चाहता है उसके लिए मैं पुल बनाने की विधि दे रहा हूँ। सामग्री तुम्हें सदैव उपलब्ध ही है। तुम्हें मात्र विधि की आवश्यकता है। विधि के साथ तुम्हारे कई प्रश्नों के उत्तर भी तुम्हें दे रहा हूँ। भीतर तुम्हारी आत्मा के रूप में और बाहर गीता के रूप में मैं तुम्हारे साथ हूँ।

राम ने सभ्यता को तैयार किया, कृष्ण के आगमन हेतु। राम को आत्मसात कर समाज कृष्ण के आगमन हेतु स्वयं को तैयार कर सका। राम का जीवन गुणों की ऊँचाई देता है तो कृष्ण निर्गुणता से परिचय कराते हैं। चेतना के विकास का परिणाम ही था कि सभ्यता ने राम के जीवन का अनुसरण किया और कृष्ण के कथन का। यदि वे तैयार न होते तो कृष्ण के जीवन का अनुसरण करते और कथन को भूल जाते।

❖❖❖

देवता

देवताओं का अस्तित्व गुणों से है। गुणों के विकास के साथ-साथ ही देवता भी विकसित हुए। साथ ही देवताओं का अस्तित्व है मन से। जब मन नहीं था, तब देवता भी न थे। जैसे-जैसे मन ने गुणों का विकास किया, वैसे-वैसे ही देवता भी उत्पन्न हुए। मन ही है जो दोनों से सम्बन्धित है। मन की अनुपस्थिति में देवता भी विलीन हो जाते हैं। देवता हैं प्रदान करने वाले व याचक ग्रहण करने वाला। देने वाला इसी कारण है क्योंकि माँगने वाला है। माँगने वाला यदि अनुपस्थित हो तो देने वाले के होने का कोई भी प्रयोजन नहीं। ईश्वर लेन-देन व माँग-आपूर्ति से परे हैं। इसी कारण ईश्वर को जानना तभी संभव है जब लेन-देन का क्रम ठहर चुका हो व माँग विलुप्त हो चुकी हो। ईश्वर देवताओं के पार स्थित हैं। जिस दिन धरती पर से मन विलुप्त हुआ उसी दिन सभी देवता भी विलुप्त हो चुकेंगे। मन ही देवताओं को बनाता है।

हर देवता एक विशेष गुण का प्रतिनिधित्व करते हैं। जैसे अग्नि देवता ताप का, वरुण देवता जल का, वायु देवता वायु का, सरस्वती ज्ञान का, लक्ष्मी धन का, कुबेर ऐश्वर्य का, विश्वकर्मा निर्माण का, इन्द्र वर्षा का, सूर्य ऊर्जा का, काली संहार का, कुल देवता कुल की रक्षा का, इत्यादि। भारत के अलावा विश्व की अन्य सभ्यताओं में भी देवताओं की उपस्थिति रही है। मानव सभ्यता के साथ ही देवता अस्तित्व में आए।

एक ईश्वरवाद व अनेक ईश्वरों की धारणा के मध्य भ्रांति का कारण देवताओं से सम्बन्धित अस्पष्ट समझ है। परमात्मा निर्गुण हैं और देवता गुणीं। सभी देवताओं की उत्पत्ति प्रकृति से ही है। प्रकृति के ही विभिन्न पक्षों को देवता का स्वरूप माना गया। सभी देवता द्वैत में स्थित हैं अर्थात् यदि देव हैं तो श्रद्धालु भी। श्रद्धालु को देवता द्वारा

दिए द्रव्य से और अपने अस्तित्व दोनों से ही आसक्ति है। वह पाना भी चाहता है और खुद को छोड़ना भी नहीं चाहता। दोनों में से यदि किसी एक को चुनना हो तो वह अपने अस्तित्व को ही चुनेगा। वहीं परमात्मा के साथ परिदृश्य दूसरा है। परमात्मा को पाने हेतु भक्त को मिटना होगा। ईश्वर और मैं दोनों एक साथ नहीं हो सकते। मैं जब तक अंतस खाली नहीं करेगा, तब तक ईश्वर उसमें समा नहीं सकते।

कृष्ण कहते हैं कि जिस-जिस की श्रद्धा जिस-जिस देवता के प्रति होती है, उसकी श्रद्धा को मैं उस देवता के प्रति स्थिर करता हूँ और उन देवताओं से वे मेरे द्वारा ही निर्धारित, इच्छित फलों को प्राप्त करते हैं। तात्पर्य यह है कि परमात्मा के कारण ही मनुष्य भी हैं और देवता भी।

❖❖❖

सागर मंथन

सृष्टि में सागर होते हैं। मनुष्य भी एक पूर्ण सृष्टि है क्योंकि बाहर उपस्थित सृष्टि के जो मूल तत्व हैं, वही उसके अपने भी मूल तत्व हैं। बाहर स्थित सृष्टि में जिस प्रकार परमात्मा, प्रकृति व मन हैं, उसी प्रकार हर मनुष्य के भी मूल तत्व हैं। सागर में जल के साथ विभिन्न तत्व व पदार्थ होते हैं, साथ ही वह अशांत है और सदैव तरंगित रहता है। हमारा अंतस ही सागर के समान ही तरंगित है। साथ ही इसमें मन, बुद्धि, अहंकार, जीव, प्रकृति, चेतना, परमात्मा के रूप में एक संपूर्ण मिश्रण है।

मंथन वह प्रक्रिया है जो एक ही पदार्थ के विभिन्न अवयवों को अलग कर देती है। दही को मथनें पर छाछ व मक्खन अलग-अलग हो जाते हैं। मंथन हेतु आवश्यक है ऊर्जा व इच्छाशक्ति। इच्छाशक्ति इसलिए क्योंकि मंथन की प्रक्रिया आपके धैर्य की परीक्षा लेती है। पौराणिक सागर मंथन देवताओं व राक्षसों ने मिलकर किया था। आंतरिक सागर मंथन सद्गुण व कर्मफल मिलकर पूर्ण करते हैं। कर्मफल मन की उपस्थिति के कारण ही एकत्र होते हैं। पौराणिक मंथन में रस्सी की जगह शेषनाग का प्रयोग किया गया। शेषनाग हर व्यक्ति के भीतर उपस्थित शक्ति की ओर इंगित करता है। शक्ति की अनुपस्थिति में मंथन संभव नहीं। इसी कारण हर मनुष्य को अपने अंतस का मंथन करने हेतु तप करना ही होगा। तप शक्ति संचय का हेतु है। शक्ति के यथाआवश्यक संघनित होते ही मंथन प्रक्रिया स्वतः ही प्रारंभ हो जाती है। पौराणिक मंथन पर्वत के प्रयोग द्वारा संपन्न किया गया। जिसके चारों ओर शेषनाग को लपेटा गया। पर्वत प्रकृति का परिचायक है और यह शरीर प्रकृति द्वारा ही निर्मित है। हर जीव को शरीर की आवश्यकता इसी कारण होती है कि वो शरीर के माध्यम से मंथन की प्रक्रिया को प्रारंभ कर सके। कोई भी मंथन परमात्मा की अनुपस्थिति में संभव नहीं, इसी कारण पौराणिक कथा में कच्छपावतार (कछुआ) उपस्थित थे जिन्होंने पर्वत को स्वयं पर धारण किया और आंतरिक मंथम में शरीर में स्थिति परमात्मा इसके साक्षी बनते हैं।

मंथन की प्रक्रिया में निकले विभिन्न द्रव्य ऐश्वय, सिद्ध ऐश्वर्य व परम ऐश्वर्य को इंगित करते हैं। जो मनुष्य अपनी विभिन्न जीवन यात्राओं को प्राप्त करता है। पौराणिक कथा में शिव उपस्थित थे जिन्होंने विष को कंठ में धारण किया। वहीं आंतरिक मंथन में सहस्त्रार पर उपस्थित शिव अपना योगदान देते हैं। पौराणिक कथा में अमृत के ठीक

पहले विष निकला। कृष्ण कहते हैं ईश्वर प्राप्ति हेतु किया गया यज्ञ प्रारंभ में विष के समान प्रतीत होता है परन्तु परिणाम में यह अमृत के समान है। उसी प्रकार मनुष्य जीवन में जिन असीम दुखों व समस्याओं से गुजरता है उसका प्रभाव विष के समान होता है जो मनस पटल पर अंकित हो जाता है। शिव अंततः विष को पीकर मनस पटल की पूर्णतः स्वच्छ व सहज कर देते हैं। मनुष्य के भीतर का द्वेष, वैमनस्य जाता रहता है। अंत में निकला अमृत है, आत्म साक्षात्कार। जब मनुष्य अपने भीतर के विस्तार अथवा अमरत्व को ढूँढ अपने छिपे आयाम को पा लेता है।

❖❖❖

महाभारत का संदेश

संदेश अर्थात् वह देशना जो संतृप्ति की ओर ले जाए। सलाह और संदेश में अंतर यह है कि सलाह समझ व अनुभव से आती है और संदेश स्थितप्रज्ञ से। सलाह मात्र संतुष्ट कर सकती है परंतु संदेश मार्ग प्रदान करने की क्षमता रखता है। एक ही सलाह अलग-अलग व्यक्तियों हेतु लाभदायक न होगी परंतु संदेश सभी के लिए समान होता है। अलग-अलग समझ और चरणों पर स्थित व्यक्ति के लिए संदेश एक ही होता है। सलाह मोहित व लिप्त व्यक्ति की ओर से आती है और संदेश निर्लिप्त से। जैसे फलों के रस में फलों के सभी सत्व छुपे हैं वैसे ही देशना शब्दों का वह समूह है जिसमें परम के सत्व छुपे हैं।

जो स्वयं अपूर्ण है उसका कोई संदेश नहीं हो सकता। संदेश पूर्ण का अपूर्ण के प्रति प्रेम है। प्रेम सदैव पूर्ण व अपूर्ण के बीच ही होता है। दो अपूर्ण व्यक्ति आपस में मिलकर प्रेम नहीं कर सकते। अपनी क्रियाओं को वे प्रेम का नाम अवश्य दे सकते हैं। कर्ण, दुर्योधन को मात्र कह सकता है कि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ लेकिन उन शब्दों में गहराई न होगी। वहाँ प्रेम है ही नहीं। इसी कारण कोई उसे महसूस भी नहीं कर सकता। कर्ण कृतज्ञता के बोझ तले दबा था और इसी बोझ को उतारने हेतु वह दुर्योधन के लिए प्राण देने को तैयार था। वहीं अपने लक्ष्यों को पाने हेतु दुर्योधन को कर्ण के बल व कुशलता का उपयोग करने में हिचक न थी।

दुर्योधन राज्य के मोह से ग्रस्त था। भीष्म राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों के पालन से। धृतराष्ट्र पुत्र मोह से, तो अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ़ता से। कौरव राज्य पर नियंत्रण के लोभ से ग्रसित थे तो पाण्डव अपना अधिकार चाहते थे। दोनों पक्षों की ओर से युद्ध करने आए योद्धा किसी पक्ष से अपनी निकटता व सम्बन्धों को व्यक्त करना चाहते थे। द्रौपदी को दुःशासन का लहू चाहिए था तो पाण्डव द्रौपदी की प्रतिज्ञा से बद्ध थे। काम, क्रोध, लोभ और मोह का एक भरपूर मिश्रण तैयार था। ऐसे में संदेश किसकी ओर से आ सकता था? किसी ऐसे की ओर से जो युद्ध के मध्य भी निर्लिप्त भाव से खड़ा था। जो युद्ध लड़ने को तैयार न था परन्तु वहाँ पर उपस्थित था। जिसकी किसी से कामना न जुड़ी थी। जो किसी पर क्रोधित न था। जिसका परिणाम से लोभ न था और जो न ही शरीरों से और न ही उन पर नियंत्रण रखने वाले व्यक्यिों से मोहित था।

लेकिन फिर भी कृष्ण वहाँ पर उपस्थित थे। मात्र इसलिए कि उसका मार्गदर्शन कर सकें जो तैयार हो चुका था मार्गदर्शन प्राप्त करने हेतु। जो अधिकारों के लोभ से परे

जा चुका था। जो कौरवों पर क्रोधित न था। जो न उनका जीवन लेना चाहता था और न ही अपने भाग का राज्य। जो द्रौपदी की प्रतिज्ञा की अग्नि से पीड़ित न था। जो जितना श्रेष्ठ धनुर्धर था उससे बड़ा दयालु। जिसके भीतर सामर्थ्य थी लेकिन सामर्थ्य का उपयोग करने की उत्कण्ठा जा चुकी थी। जो विपक्ष में युद्ध करने आए पितामह भीष्म और गुरुओं से खिन्न न था; वह था अर्जुन। जो स्वयं से पूछ रहा था कि वह युद्ध में क्यों है? और कृष्ण उपस्थित थे वहाँ, उसे बतलाने को कि क्यों वह वहाँ उपस्थित था?

कृष्ण ने अर्जुन को मार्गदर्शन दिया व वही मार्गदर्शन सभ्यता के लिए संदेश बन गया। अर्जुन ने कहा कि क्यों जीतूँ इस युद्ध को? क्या लाभ है इसमें? कृष्ण कहते हैं कि तू जीतने हेतु है ही नहीं यहाँ। जीतने हेतु आया होता तो मेरा मार्गदर्शन न प्राप्त कर पाता। तुझे आवश्यकता ही नहीं होती क्योंकि तब लक्ष्य सामने होता।

तू जीतने नहीं, मात्र अपने स्वभाव के कारण यहाँ है। क्षत्रियता तेरा स्वभाव है और क्षत्रिय 'दमन और अन्याय' को रोकने हेतु ही तो युद्ध करता है। यदि वह अपने लाभ हेतु युद्ध करने लगे तो वह दमनकारी हो गया।

तू मात्र इसलिए युद्ध कर की तुझे दमन रोकना है। तेरा गुण और सामर्थ्य यदि न्याय की रक्षा करने हेतु काम आ जाए तो युद्ध में मिली मृत्यु भी कल्याणकारी होगी। तू यहाँ इसलिए है कि तुझे अपना कल्याण करता है और पृथ्वी पर उपस्थित हर मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य मात्र यही है, जो है अपना कल्याण। कैवल्य का कारण ही कल्याण है और कैवल्य प्राप्ति का मार्ग है अपने स्वभाव पर कार्य। यही एकमात्र धर्म है। हर धर्म मात्र यही करता है और वह है व्यक्ति के स्वभाव पर कार्य। युद्ध जीतने पर यदि राज्य मिल जाए तो उसे परिस्थितिजन्य लाभ मानना। जीत मिले या हार परन्तु यदि तू

अपने धर्म अर्थात् स्वभाव के अनुसार कार्य करता है तो तेरी विजय निश्चित है। काम, क्रोध, लोभ व मोह मनुष्य को मात्र अपने सहज स्वभाव से विचलित करते हैं।

तू इसलिए मत लड़ की तुझे किसी को मारना है। तू लड़ क्योंकि तुझे अपना धर्म निभाना है। तू ही नहीं पृथ्वी पर उपस्थित हर एक मनुष्य को मात्र अपने सहज स्वभाव के अनुसार व स्वभाव पर ही कार्य करना है। भावनाएँ बदलती हैं परन्तु सहज भाव नहीं। तू यहाँ युद्ध करने आया था, अब युद्ध नहीं करना चाहता और बाद में यह युद्ध करेगा। यह है भावना जो परिवर्तनशील है। परंतु पहले भी तेरा स्वभाव निर्मल था, अब भी निर्मल है और युद्ध करते समय भी निर्मल ही होगा। यह है भाव। मनुष्य जीवनभर के जिस भाव में रहता है, शरीर त्याग करते क्षण भी उसी भाव में होता है। जीवन में अपने मन द्वारा अपने भाव को मलिन न करने देना ही वास्तविक विजय है। अपने सहज स्वभाव में रहता हुआ व्यक्ति सदैव विजयी भाव में ही रहता है। इसलिए अर्जुन तू सहज रह। सहजता वह है जो जन्म के साथ ही हर मनुष्य में होती है। बच्चे इसी कारण सबके प्रिय हैं क्योंकि वे सहज हैं। बाहर नहीं भीतर देख, बाहर भ्रम है भीतर सहजता।

❖❖❖

शिव के शरीर पर भस्म क्यों?

भस्म अर्थात् राख। अग्नि पदार्थ को भस्म में परिवर्तित कर देती है। **पदार्थ अर्थात तत्व + ऊर्जा**। तत्वों के अणु व परमाणु आपस में बँध बना पदार्थ का स्वरूप धारण कर लेते हैं। ऊर्जा की अनुपस्थिति में पदार्थ एक नियत संरचना नहीं प्राप्त कर सकता। अग्नि अणुओं के बीच बने बँध को तोड़कर पदार्थ को पुनः अणुओं में बदल देती है। मुक्त ऊर्जा ब्रह्माण्ड में विलीन हो जाती है और तत्व भस्म के रूप में धरती पर बिखर जाते हैं। इस प्रकार यह पूर्णतया स्पष्ट है कि शरीर प्रकृति द्वारा ही निर्मित है। मनुष्य अपनी सुविधा के लिए मशीन बनाता है और जीव अपने प्रयोजन के लिए प्रकृति से शरीर प्राप्त करता है। आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि प्रकृति से प्राप्त शरीर का उपयोग अधिकतर प्रकृति के विरोध के लिए ही होता है।

जीव शरीर से जुड़कर जिस यात्रा पर निकलता है, उसे जीवन कहते हैं और इस जीवन में जीव प्रकृति से ही चूक जाता है। साथ ही अपने लक्ष्य प्राप्त करने के लिए वो प्रकृति का विध्वंस करने से भी नहीं चूकता। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे जेसीबी मशीन जिस कारखाने से बनकर आई, वो उसी कारखाने को तोड़ने के लिए कार्य करने लगे और तिस पर भी कारखाना मशीने बनाना बंद न करे। मनुष्य कितना भी प्रकृति के विरोध में काम क्यों न करे, प्रकृति नए मनुष्य बनाना बंद नहीं करती।

शिव भस्म को शरीर पर लपेट संदेश देते हैं कि कल जो तुम्हारे शरीर का भाग था। आज वही मेरे शरीर पर लिपटा है और कल धूल में विलीन हो जाएगा। पदार्थ पदार्थ में मिल जाता है। ऊर्जा स्वरूप बदल देती है और प्रकृति के इसी समर्पण से मुझे प्रेम है। मैं शरीरों को बनते और गिरते देखता हूँ। मैं व्यक्तियों को उभरते ओर विस्मृत होते

देखता हूँ। साथ ही साथ मैं प्रकृति को स्थिर, शांत, समर्पित और प्रेम में मग्न देखता हूँ और इस प्रकार स्वयं को मात्र प्रकृति से ही ओत-प्रोत पाता हूँ। इसी कारण उसे स्पष्टतया जानता हूँ, जो एकमात्र उपस्थित है। प्रकृति का आवरण मुझे निर्बाध रूप से परम में विलीन रहने की स्वतंत्रता देता है। प्रकृति ही माँ के रूप में प्रजनन करने की सामर्थ्य रखती है। मन ही बताएगा कि तुम शून्य नहीं इकाई हो, उपस्थित हो। तुम्हारी उपस्थिति वास्तविक है अतः इसका संरक्षण करो। जीवनयात्रा का मात्र एक ही लक्ष्य है और वह है स्वयं से जुड़ना क्योंकि स्वयं से जुड़ने से बड़ी खुशी नहीं और स्वयं को ही खो देने से बड़ा कोई दुख नहीं।

पार्वती ने तपस्या कर जिस शिव को प्राप्त किया वह कोई दूसरा शरीर न था क्योंकि शिव रूप में मैं स्वयं उनके भीतर ही उपस्थित था। ठीक उसी प्रकार मैं तुम्हारे भीतर भी उपस्थित हूँ। स्वयं को शुद्ध और शांत कर तुम मुझे स्वयं में पा सकते हो और भस्म को मात्र भस्म ही रहने दो। उससे पुनः शरीर बनाकर उसमें प्रवेश करने का कोई प्रयोजन नहीं।

❖❖❖

शिव का तृतीय नेत्र

चित्रों व मूर्तियों में शिव के ललाट पर दोनों नेत्रों के मध्य में तृतीय नेत्र दिखाया जाता है। यह क्षैतिज न दिखकर ऊर्ध्व दिखता है। सूक्ष्म शरीर में ठीक इसी स्थान पर आज्ञा चक्र की स्थिति होती है। लेकिन दो नेत्रों के होते हुए तीसरे नेत्र की आवश्यकता ही क्या है? और वह कौन सा दृश्य है जो दोनों नेत्र न दिखा सकें तथा जिसके लिए तीसरे नेत्र की आवश्यकता हो। हमारे दो नेत्र वास्तव में दिखाते क्या हैं? नेत्र हमें अतीत और भविष्य दिखाते हैं। वर्तमान को दिखाने का सामर्थ्य इन दो नेत्रों में नहीं। सामने जो भी चित्र प्रस्तुत होता है उसमें हम अपने अतीत या फिर भविष्य को ही देखते हैं। ये नेत्र हर मनुष्य की व्यक्तिगत खोज के माध्यम मात्र है। वास्तव में नेत्र तो कैमरे की भाँति हैं और इनका नियंत्रण मन के पास होता है। सामने घटित चित्र में हमें हमारा भविष्य दिखता है। कोई सुंदर महंगी गाड़ी जो हमें भी चाहिए। एक आलीशान घर, जो न जाने कब हमारा होगा? हममें रुचि प्रदर्शित करती कोई आकर्षक स्त्री, इसे जीतना कैसे संभव होगा? कोई उच्च पदस्थ व सम्मानित व्यक्ति, इसके जैसा प्रभाव कब और कैसे पाया जा सकेगा? कोई मनमोहक देश, जहाँ पर जाना कब संभव हो सकेगा? कोई वृद्ध व असहाय व्यक्ति, रोगी, असुरक्षा की भावना से पीड़ित व जीवन की ठोकरें खाता कोई इंसान। क्या करना होगा जिससे ऐसी स्थिति से बचा जा सके। ये सभी हमारा भविष्य दिखाते हैं। कोई बच्चा, युवा, विद्यार्थी, गरीब, असहाय जिनमें हम अपने अतीत को देखते हैं। इस प्रकार मन और नेत्र मिलकर हमें अतीत व भविष्य दिखाते हैं।

तृतीय नेत्र व्यक्ति के तीसरे आयाम को दिखाता है। तृतीय नेत्र का खुलना अर्थात् चेतना का जाग्रत होना। जिस एक क्षण में बुद्ध हो ज्ञान प्राप्त हुआ, उस क्षण नेत्रों का नियंत्रण मन के हाथों से निकल चेतना के पास चला गया और अब इन्हीं नेत्रों के माध्यम से बुद्ध को सामने वर्तमान दिख रहा था। अब सामने स्थित कुछ भी अपरिचित न था और सामने कोई विभिन्नता भी न थी। सामने जो भी था वो अपना था और स्वयं बुद्ध ही उसमें थे। अब असुरक्षा कहाँ थी। अब कोई भावना न थी। अब मात्र शांति थी – बाहर, भीतर एक समान।

शिव कामदेव से बातें कर रहे थे। उनके दोनों नेत्र खुले थे। तभी उन्होंने महसूस किया कि सामने लोभ है और उन्होंने तृतीय नेत्र अर्थात् तृतीय आयाम से कामदेव को देखा। काम भस्म हो चुका था। ज्ञान चक्षु को काम नहीं दिखता। मात्र प्रेम ही दिखता है। कामदेव शारीरिक रूप से न जले थे। बस अपना प्रभाव खो बैठे थे। एक देवता अपने प्रभाव से वंचित हो चुका था। रति ने अनुरोध किया कि प्रभाव आपके लिए समाप्त हुआ परंतु जीवों के लिए न हो क्योंकि यह प्रकृति जनित गुण है। तब शिव ने कहा कि ऐसा ही हो क्योंकि परमात्मा द्वारा संरक्षित सृष्टि में परिवर्तन नहीं कर सकता। हर व्यक्ति वर्तमान को देखने हेतु इसी तृतीय नेत्र को जागृत करता है। ईश्वर तक का मार्ग वर्तमान से ही जाता है। तब तक अतीत और भविष्य का भ्रम तो कायम है ही।

नवरात्र

वर्ष में दो बार मनाए जाने वाले नवरात्र नौ दिनों तक चलते हैं। ये नौ दिन शक्ति को समर्पित हैं। शक्ति हर एक प्राणी के भीतर स्थित है। नौ दिनों में ही व्रत व अराधना के द्वारा व्यक्ति अपना शुद्धिकरण करता है। इस शुद्धिकरण का प्रभाव शरीर, मन, शक्ति व चेतना पर पड़ता है।

नवरात्र में फलाहार आहार है। अन्न, स्वाद, नमक व नशे को त्याग दिया जाता है। शरीर को फल व दूध जैसा सुपाच्य भोजन मिलता है। पाचनतंत्र पर से अनावश्यक बोझ हट जाता है। भोजन के माध्य से पहुँचने वाले टॉक्सिन शरीर तक नहीं पहुँचते। शरीर में एकत्र टॉक्सिन्स को बाहर निकालने का शरीर को उपयुक्त समय मिल जाता है।

भोजन पचाने में प्रयुक्त शक्ति का उपयोग अब शरीर के रख-रखाव के लिए होने लगता है। पेट हल्का रहने के कारण व्यक्ति शरीर में लचीलापन महसूस करता है। अतिरिक्त चर्बी गलने लगती है। शरीर के हल्के होने का सीधा सम्बन्ध स्फूर्ति से है।

व्रत का दूसरा महत्वपूर्ण प्रभाव मन पर पड़ता है। व्रत का निश्चय किए जाने के साथ ही मन शान्त होने लगता है। मन की चंचलता का सीधा सम्बन्ध उसके पसंदीदा आहार से है। आहार अर्थात् आहरित करना। जिसे भी इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण किया जाए वही आहार है। इन्द्रियों पर नियंत्रण रखे जाने के साथ मन नियंत्रित होने लगता है। मन के नियंत्रण का सीधा प्रभाव उसमें चलने वाले विचारों पर पड़ता है।

विचारों की गति मंथर होने के कारण व्यक्ति अन्य दिनों की अपेक्षा स्वयं को ज्यादा शांत महसूस करता है।

नवरात्र शक्ति संचित करने का पर्व है और यह संभव है अनावश्यक शक्ति व्यय को रोकने व पर्यावरण से ज्यादा शक्ति प्राप्त करने से। नियंत्रित मन कम शक्ति खर्च करता है। नियंत्रित शरीर भी कम शक्ति व्यय करता है। पाचन शक्ति का नियमन भी शक्ति अपव्यय को रोकता है। अराधना, मंत्रोच्चार व भजन मन को एकाग्र कर शक्ति को संघनित करते हैं। फल व दूध प्राकृतिक शक्ति से भरे भोजन हैं। बीमारी के दौरान चिकित्सक सादा भोजन करने की सलाह इसी कारण देते हैं क्योंकि सादा भोजन आसानी से पचता है। उसे पचाने में पाचन शक्ति कम व्यय होती है और बची हुई शक्ति शरीर को पुनः स्वस्थ करने में मदद करती है।

मन के नियंत्रित होने का सीधा प्रभाव चेतना पर पड़ता है। मन ही वह परजीवी है जो चेतना से जुड़ा हुआ है। अनियंत्रित मन का नियंत्रित हो जाता ठीक वैसा ही है जैसे अस्वस्थ व्यक्ति का खुद को स्वस्थ महसूस करना। शांत मन होगा लेकिन उस शांति को महसूस चेतना करेगी। नियंत्रित मन होगा लेकिन स्थिरता चेतना महसूस करेगी। चेतना का भोजन है शक्ति। अपने भोजन को पाकर चेतना तृप्त महसूस करती है। शक्ति ही चेतना को शुद्ध होने में सहायता देती है। व्यक्ति का स्वभाव सीधे उसकी चेतना से जुड़ा है। चेतना जितनी शुद्ध होगी व्यक्ति का स्वभाव उतना ही निर्मल होगा। व्रत कोई भी हो लेकिन लाभार्थी चेतना ही है।

❖❖❖

भोला भण्डारी

भोला ही भण्डारी क्यों है? और जो भोला नहीं वह कौन है? वह या तो इच्छुक है या फिर लोभी। इच्छुक भण्डार में से कुछ पाने का इच्छुक है और लोभी भण्डार में से बहुत कुछ पाने का प्रयासी है। भोला, भण्डारी इस कारण है क्योंकि भोले के पास ही पार्वती हैं। पार्वती ही प्रकृति हैं। प्रकृति ही रत्नगर्भा है। समस्त संसाधन उसके द्वारा व उसके कारण ही हैं। लेकिन रत्नगर्भा उसे क्यों चाहती है जो निर्लिप्त है, वैरागी है?

जो निर्लिप्त है, वैरागी और भोला है, उसके पास न मन है और न बुद्धि क्योंकि उसे न मन की आवश्यकता है और न बुद्धि की। भोले के पास शुद्ध चेतना है, जो स्वयं प्रेम है। यही अवस्था प्रकृति की भी है। उसे भी मन और बुद्धि से राग नहीं। वह भी शुद्ध प्रेम है। मन व बुद्धि से रहित होने के कारण ही वह शुद्ध प्रेम है। प्रकृति बताती है कि हर एक प्राणी की मूल खोज प्रेम की ही है परंतु मन और बुद्धि के प्रभाव के कारण वह अधिकारों, संसाधनों, आकर्षणों, रोमांच व प्रेम से इतर प्रयोगों में भी रुचि लेता है।

भोले निर्लिप्त हैं व द्वंद्व से परे हैं और यह अवस्था मन से रहित होने के कारण है। शिव के भीतर से प्रकृति निर्बाध रूप से प्रवाहित होती है। शिव के भीतर कोई बाँध नहीं जो प्रकृति को रोके। वे प्रकृति को पूर्ण स्वतंत्रता देते हैं। वे प्रकृति के मूल स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं करते। वास्तव में वे पूर्णतया अंतर्मुखी हैं। वे अनंत चेतना से जुड़े हैं। वे समयहीनता की ओर देख रहे हैं और चारों ओर उपस्थित प्रकृति वर्तमान में स्थित है। प्रकृति शिव के प्रति पूर्णतया समर्पित है। वह चाहती है कि किसी निर्लिप्त की ही उसके संसाधनों तक निर्बाध पहुँच हो। इसी कारण वह शिव के वचनों और

उनकी इच्छा को कभी अपूर्ण नहीं छोड़ती। शिव के भोलेपन के कारण ही इच्छुक उनकी अराधना कर इच्छापूर्ति की प्रार्थना किया करते हैं। शिव व शक्ति मिलकर ही भोले व भण्डारी रूप में चरित्रार्थ होते हैं। शिव व शक्ति दोनों को प्रेम से मतलब है, भंडार से नहीं। मन और बुद्धि को भण्डार से मतलब है, प्रेम से नहीं। इसी कारण शिव व शक्ति से वह अछूता रह जाता है।

मन व बुद्धि मिलकर प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करते हैं क्योंकि एकमात्र प्रकृति ही है जो उनकी सारी इच्छाएँ पूर्ण कर सकती है। प्रकृति से इतर कोई इच्छा नहीं और उसकी पूर्ति का साधन भी नहीं।

❖❖❖

गंगासागर एक बार

सारे तीर्थ बार-बार, गंगासागर एक बार। गंगासागर एक बार ही हो लेना क्यों पर्याप्त है? जैसे सागर में गई गंगा, वापस लौटती नहीं। वैसे ही शरीर में उपस्थित शक्ति रूपा गंगा के शरीर के चारों ओर उपस्थित प्रकृति रूपी सागर से मिलने के पश्चात् विलुप्त हुए व्यक्तित्व अर्थात् 'मैं' से वापस जुड़ने की इच्छा पूर्णतया विलुप्त हो जाती है। गंगा अपने साथ बहुत सी अशुद्धियों को बहा समुद्र में ले जाती है। वैसे ही शरीर के भीतर स्थित गंगा भी व्यक्तित्व रूपी अशुद्धि को अपने साथ बहा ले जाती है।

शेष सभी तीर्थों से व्यक्तित्व वापस आ जाता है परंतु गंगासागर परम तीर्थ है। धरती पर स्थित गंगासागर, आंतरिक गंगा व प्राकृतिक सागर के मिलन की अभिव्यक्ति है। प्राचीन भारतीय सत्यान्वेषियों ने प्रकृति के अवयवों व घटनाओं को अपने भीतर पाकर उन्हें बाहर स्थित प्राकृतिक संरचनाओं से जोड़कर तीर्थों की स्थापना की। भीतर की अनुभूतियाँ ही बाहर संकेतों के रूप में अभिव्यक्त हो गई।

मृत्यु मात्र व्यक्तित्व का ठहराव है। अगले जन्म में वह नए रूप में जाग उठता है परंतु एक बार गंगासागर में पहुँचने पर वह विलीन हो जाता है। गंगा का सागर तक पहुँचना उसके चक्र के चलायमान होने का संकेत है। यदि गंगा सागर तक नहीं पहुँच पा रही हो तो अवश्य कहीं न कहीं अवरोध अवश्य है। हमारी भीतरी दुनिया में वह अवरोध है मन व मन का विस्तार बुद्धि। मन व बुद्धि ही गंगा पर बाँध बनाकर उसकी शक्ति को विद्युतशक्ति में परिवर्तित कर अपने लिए ऊर्जा के संसाधन जुटाते हैं। हमारे भीतर भी मन व बुद्धि शक्ति को ऊर्जा में परिवर्तित कर उसे खर्च करते रहते हैं। साथ ही चेतना के ऊपर कर्मफल की विभिन्न परतों का निर्माण करते चले जाते हैं।

व्यक्तित्व की अनुपस्थिति में शक्ति का कर्मफल में परिवर्तन समाप्त हो जाता है और शक्ति प्रेम, ज्ञान, भक्ति, योग, सेवा व विवेक के रूप में परिवर्तित हो सभ्यता की ओर प्रवाहित हो जाती है। व्यक्तित्व ही भावनाओं का कारण है। व्यक्तित्व से मुक्त हो प्राणी, भावनाओं से भी मुक्त हो जाता है व भाव में स्थिर हो जाता है। गंगा का गंतव्य सागर है। आपकी शक्ति का गंतव्य प्रकृति है।

भभूत

ठोस पदार्थों की दो संरचनाएँ होती हैं। क्रिस्टलाइन व अमारफस। जैसे आटे से पानी मिलकर उसे लोई का रूप दे देता है। वैसे ही पदार्थ के मूल तत्व व ऊर्जा मिलकर उसे क्रिस्टलाइन रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। पदार्थ की कोई विशेष आकृति जैसे शरीर, मकान, समान, कपड़े, गाड़ियाँ, भोजन इत्यादि क्रिस्टलाइन संरचना के उदाहरण हैं। क्रिस्टलाइन संरचना में से ऊर्जा के निकल जाने पर बचता है अमारफस स्वरूप।

अग्नि का यह विशेष गुण है कि वह क्रिस्टलाइन संरचना को अमारफस अवस्था में परिवर्तित कर देती है। ऊर्जा की उपस्थिति में पदार्थ के मूल तत्वों के मध्य उपस्थित ऊर्जा, अवमुक्त हो पदार्थ की संरचना को परिवर्तित कर देती है। मनुष्य का सारा मोह, लोभ, काम और क्रोध पदार्थ की क्रिस्टलाइन संरचना से ही लगता है। संरचना परिवर्तन के साथ ही उसका मोह जाता रहता है। इस प्रकार मन पदार्थ की मात्र एक संरचना के प्रति ही आकर्षित है। पदार्थ की संरचना बदलते ही उसका मोह भंग तय है।

एक बीज की विशेषता यह है कि वह अमारफस संरचना में ऊर्जा भरकर उसे क्रिस्टलाइन संरचना में परिवर्तित कर देता है और यह क्रिस्टलाइन संरचना विभिन्न गुणों से भरी होती है। इन गुणों के प्रति ही मन आकर्षित है। वहीं संरचना में आए सूक्ष्म परिवर्तन से गुणों में परिवर्तन हो जाता है। आकर्षक अनाकर्षक में बदल जाता है।

अग्नि को पवित्र कहा गया क्योंकि यह पदार्थों में उपस्थित ऊर्जा के साथ उसके गुणों को भी अवमुक्त कर देती है। कृष्ण कहते हैं कि एक हाथी, कुत्ते, चाण्डाल व्यक्ति व ज्ञानी में भेद न करना। ये सभी गुण हैं। एक न एक दिन समाप्त हो जाएँगे। उनमें भेद कर तुम अपने समय को व्यर्थ व मन को मलिन करोगे।

शिव मंदिरों में विशेषतः भभूत या राख ही प्रसाद रूप में दी जाती है। मन की भभूत में कोई रुचि नहीं। भभूत देने का तात्पर्य यह संकेत देना है कि तुम्हारा यह शरीर व सभी वस्तुएँ जिनसे तुमने मोह लगा रखा है वे इसी भभूत से निर्मित हैं व एक दिन इसी भभूत में परिवर्तित हो जाने हैं। पदार्थ की संरचना के भेद को समझो। गुणों को समझो। अपने संसाधनों व समय का उचित उपयोग करो। वास्तव में क्रिस्टलाइन व अमारफस दोनों ही संरचनाएँ सूर्य की ऊर्जा से ही निर्मित हैं। ये ऊर्जा से ही बनीं व ऊर्जा में ही परिवर्तनीय हैं। पदार्थ ठोस ऊर्जा है। अतः परिवर्तनीय वस्तुओं में सुख के साधन मत ढूँढो। भोग परिवर्तनीय है, योग स्थिर।

❖❖❖

अर्धांगिनी

अर्धांगिनी अर्थात् आधे भाग की स्वामिनी। शरीर दो ध्रुवों से मिलकर निर्मित है। शिव व शक्ति। शिव उत्तरी ध्रुव अर्थात् मस्तक और शक्ति दक्षिणी ध्रुव अर्थात् आधार। रीढ़-रज्जु के नीचे, गुदा के पास, पर स्थित होती हैं। स्त्री को शक्ति का स्वरूप इस कारण माना जाता है क्योंकि उसमें पुरुषों से ज्यादा शक्ति होती है। शक्ति ही उसमें प्रजनन की क्षमता होने का कारण है। शक्ति को प्रधानता के कारण ही स्त्रियों को अर्धांगिनी कहा जाता है परंतु वास्तविक अर्धांगिनी हर शरीर में रहने वाली शक्ति है।

पाणिग्रहण संस्कार अर्थात् विवाह में स्त्री प्रारंभ में पुरुष के दाहिने भाग की ओर बैठती है और कुछ वचनों के दिए जाने के पश्चात् ही वह बाएँ अर्थात् वाम अंग की ओर आना स्वीकार करती है। बाएँ अंग में आने के पश्चात् अग्नि अर्थात् प्रकाश की परिक्रमा कर, इस मिलन को सत्यापित किया जाता है और इस प्रकार पुरुष और स्त्री का विवाह पूर्ण माना जाता है। तत्पश्चात् स्त्री पुरुष के मिलन से संतान उत्पन्न होती है और माना जाता है कि परिवार को पूर्णता प्राप्त हुई।

हर एक शरीर के भीतर चाहे वह स्त्री का हो या पुरुष का। विवाह के समान ही शिव व शक्ति अर्थात् उसके दोनों ध्रुवों के मिलन की संभावना होती है। यम नियमों के पालन द्वारा व्यक्ति ईश्वर के प्रति समर्पित होता है और तब शरीर के दक्षिण भाग में उपस्थित शक्ति शरीर के वाम अंग में आना स्वीकार करती है। विवाह में प्रयुक्त अग्नि के समान ही दोनों के मिलन से ज्ञान रूपी प्रकाश उत्पन्न होता है। जो शिव व शक्ति के मिलन का साक्षी होता है। शिव व शक्ति के मिलन से चेतना रूपी संतान का जन्म होता है। इस प्रकार हर एक व्यक्ति चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, पूर्णता प्राप्त करता है।

जिस प्रकार 7000 वर्ष पूर्व घटी राम कथा का मंचन आज भी चारों ओर किया जाता है। ठीक उसी प्रकार समाज में आयोजित किए जाने वाले विवाह समारोह शिव व शक्ति के मिलन का मंचन मात्र हैं। विवाह मात्र एक आयोजन नहीं, संदेश है। इस संदेश से हम चूक जाते हैं क्योंकि हमारी बुद्धि इसे एक आयोजन मात्र मानती है। इस शरीर के माध्यम से दूसरे प्राणी से विवाह भी संभव है व इसी शरीर को शिव व शक्ति के विवाह आयोजन स्थल में बदल देने की संभावना भी मौजूद है। शिव व शक्ति के मिलन द्वारा ही जीवन पूर्णता प्राप्त करता है। जिस प्रकार शक्ति अर्थात् पार्वती के पिता दक्ष शिव व शक्ति के मिलन के प्रति सशंकित व अनिच्छुक थे। उसी प्रकार हमारा व्यक्तित्व भी शिव व शक्ति के मिलन के प्रति सशंकित व घोर अनिच्छुक होता है। क्योंकि वह जानता है कि विवाह के पश्चात् वह शक्ति पर से अपना नियंत्रण खो देगा। समाज व्यक्तित्वों का समूह है। इसी कारण हर उस व्यक्ति का विरोध होता है जो अपने भीतर इस विवाह को संपन्न करना चाहता है। समाज विवाह को रोचक और मनोरंजक बनाता है। इसके उलट शिव व शक्ति का मिलन अत्यंत शांति में घटित होने वाली घटना है। जिसके मिलन, प्रकाश की उत्पत्ति व चेतना का जन्म एक क्षण में ही घटित होता है। इस एक क्षण में ही व्यक्ति को इस प्रश्न का उत्तर मिल जाता है कि 'वह कौन है?' प्रकृति से मुक्त हुए बिना, इस प्रश्न का उत्तर संभव नहीं। शिक्षा के पश्चात् मनुष्य सामाजिक विवाह करता है व दीक्षा के पश्चात् वह अपने भीतर इस विवाह को संपन्न कराने का प्रयत्न करता है। सामाजिक विवाह में वह कर्ता होता है। आंतरिक विवाह का वह आयोजक है। विवाह में पुरुष व स्त्री का भेष धरे दो जीव, वास्तविक पुरुष और स्त्री (शिव व शक्ति) का अभिनय करते हैं। ताकि अभिनय के माध्यम से वास्तविक पुरुष व स्त्री को ज्यादा बेहतर रूप में जाना जा सके। पुत्री के विवाह के पश्चात् ही पिता के जिम्मेदारी मुक्त होने का तात्पर्य है कि शक्ति के शिव से मिलन के पश्चात् ही व्यक्तित्व मुक्ति प्राप्त करता है।

दीपदान

धर्म अध्यात्म को कर्मकाण्ड में परिवर्तित कर उन्हें रीति रिवाजों के रूप में अपना लेता है। सनातन धर्म प्रकृति अराधक धर्म हैं। वह प्रकृति को नदी, पर्वत, फसल, सूर्य, गाय, वृक्ष, पौधों, चन्द्रमा इत्यादि के रूप में पूजता है। नदियों में प्रज्ज्वलित दीप को प्रवाहित करने की परंपरा रही है। जिसमें दीपक नदी के सुपुर्द कर दिया जाता है और नदी उस जलते दीपक को अपने साथ बहा ले जाती है।

दीपक शरीर को इंगित करता है और ज्योति आत्मा को। नदी में प्रवाहित करने का तात्पर्य है, स्वयं को प्रकृति के सुपुर्द करना। प्रकृति ही शांति है। प्रकृति अर्थात् शांति ही कोलाहलपूर्ण मन और परमात्मा के मध्य स्थित होती है। दीपदान में संकेत छुपा है कि अपना नियंत्रण अपने मन के हाथों से लेकर प्रकृति को दे दो। फिर प्रकृति का प्रवाह तुम्हें अपने साथ ले स्वतः ही परमात्मा की ओर ले जाएगा। दीपक प्रकृति सम्मत है। वह स्वयं को प्राप्त संसाधनों को प्रकाश में परिवर्तित कर पुनः प्रकृति को वापस लौटा रहा है। नदी में बहता दीप प्रकृति की निश्चिंतता में स्थित हुआ, प्रकृति समान ही बरत रहा है। वह तब तक जलता रहेगा, जब तक कि उसके पास संसाधन हैं और संसाधनों के समाप्त होते ही दीपक का शेष भाग प्रकृति में ही समाहित हो जाएगा और प्रकाश अनंत ब्रह्माण्ड की यात्रा पर निकल चुका होगा। पदार्थ व प्रकाश अलग-अलग हो जाएँगे। प्रकाश अब पदार्थ में विलुप्त नहीं अपितु मुक्त है।

मूर्तियों में बुद्ध के कपाल के मध्य प्रज्ज्वलित ज्योति दीपदान की ओर इंगित करती है। बुद्ध ने अपना नियंत्रण अपने मन के हाथों से वापस अपने नियंत्रण में लिया और स्वयं में स्थित शक्ति के माध्यम से ज्ञान का प्रकाश प्रज्ज्वलित किया। शेष जीवन इसी शक्ति को संघनित कर इस प्रकाश को प्रज्ज्वलित रखा और उसे चारों ओर फैलाते रहे। प्रकाश प्राप्त होते ही

उन्होंने स्वयं को प्रकृति के सुपुर्द किया व अपना पूरा ध्यान व शक्ति स्वयं में जलते दीपक की ओर मोड़ दी। बुद्ध के पूरे जीवन को यदि एक शब्द में समाहित करें तो वह होगा 'दीपदान'। दीपदान को यदि एक जीवन के माध्यम से समझने का प्रयत्न करें तो बुद्ध, महावीर व नानक का जीवन दीपदान को ही अभिव्यक्ति देता है।

जिसने दीपदान किया उसने संसार का तट छोड़ दिया व प्रकृति के साथ आगे बढ़ गया। प्रकृति को समर्पित होने का तात्पर्य है प्रकाश का सभी दिशाओं में, चहुँओर एक समान फैलना। यदि दीपक प्रज्ज्वलित हो एक कमरे में ही स्थित रह गया तो उसका लाभ मात्र उन तक पहुँचेगा जो थोड़े बहुत लोग उस कमरे में उपस्थित होंगे। सभ्यताएँ नदियों के किनारे बसती हैं अतः प्रकृति को समर्पित हो वह सभ्यता के एक छोर से दूसरे छोर तक जा सकता है। अंधकार से पीड़ित व्यक्ति को यदि थोड़ा भी प्रकाश मिल जाए तो वह जान जाएगा कि प्रकाश कोरी कल्पना नहीं वास्तविकता है। अब अपने हिस्से का प्रकाश पाए बिना वह चैन से नहीं बैठेगा।

बुद्ध ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् 45 वर्षों तक भ्रमण करते रहे और लोगों के बीच जाकर उनसे मिलते व बातें करते रहे। इसी क्रम में उन्होंने जीवन भी त्यागा। 42 वर्ष की उम्र में ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् महावीर 30 वर्षों तक ग्राम-ग्राम, नगर-नगर जाते रहे व जो कुछ भी उन्हें प्राप्त हुआ उसे लोगों तक पहुँचाते रहे। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् नानक ने 30 वर्षों के लिए घर त्याग दिया व विभिन्न स्थानों की यात्राएँ कीं। कारण मात्र एक था कि वे जानते थे कि उनके हाथ में जलती हुई मशाल है और इस मशाल को लेकर उन्हें लोगों के बीच जाना ही था। ठीक उसी प्रकार जैसे ओलंपिक प्रारंभ होने से पहले, मशाल को दुनियाँभर से होकर ले जाया जाता है। जो ओलंपिक के प्रारंभ होने की सूचना होती है। आत्मदीपक प्रज्ज्वलन व उसके प्रकाश का दान। यही मानव जीवन के दो प्रमुख लक्ष्य हैं।

❖❖❖

लोक

लोक का सम्बन्ध चेतना से है। सूक्ष्म प्राणियों से लेकर परमात्मा तक उसकी यात्रा में वह जिन विभिन्न चरणों पर स्थित होती है, उसे ही लोक कहते हैं। यह ठीक उस प्रकार है जैसे स्टेशन 'क' से लेकर स्टेशन 'ज्ञ' तक जाने वाली ट्रेन 'ख, ग, घ' इत्यादि स्टेशनों से होती हुई गुजरती है। चेतना के लिए ये विभिन्न स्टेशन ही विभिन्न लोक हैं। लोक वे सीढ़ियाँ हैं, जिन पर चढ़कर चेतना पदार्थ से चैतन्य तक की अपनी यात्रा पूर्ण करती है।

धरती को मृत्यु लोक कहा जाता है क्योंकि मृत्यु इस लोक की वास्तविकता है। सूक्ष्म जीवों से लेकर मनुष्यों तक को इस अनुभव से गुजरना होता है। धर्म जीव के शरीर से सम्बन्ध टूटने की घटना को मृत्यु कहता है। वहीं मन इसे पूर्ण विराम या अन्त कहता है। अध्यात्म ज्ञान प्राप्ति को 'सुन्दर मृत्यु' कहता है, जब व्यक्तित्व तो समाप्त हो जाता है परंतु चेतना का शरीर से सम्बन्ध बना रहता है।

मृत्यु लोक से परे देव, ब्रह्म, वैकुण्ठ, गौ इत्यादि लोकों का वर्णन किया जाता है। देवलोक गुणों से सम्बन्धित है, जहाँ हर गुण से सम्बन्धित देवता स्थित होते हैं। ये वे चेतनाएँ हैं जिन्होंने अपने गुणों का चरम विकास किया तथा उन गुणों से सम्बन्धित मनुष्य और जीव जगत की इच्छाओं को संतुष्ट करने हेतु उनकी उपस्थिति है।

ब्रह्मलोक वह है जहाँ सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा स्थित हैं। वैकुण्ठ भगवान विष्णु का लोक है। वैकुण्ठ में क्षीर सागर प्रकृति के प्राणियों के प्रति प्रेम को दर्शाता है। शेषनाग कुण्डलिनी शक्ति को दर्शाता है, जो प्रकृति के बंधन से चेतना को मुक्त कर भगवान

विष्णु की योगनिद्रा के समान ही चेतना को अनंत चैतन्य की ओर उन्मुख कर देती है। पैर दबाती लक्ष्मी विष्णु चेतना के प्रति प्राकृतिक ऐश्वर्य के समर्पण को इंगित करती हैं।

गौ लोक वह है जहाँ मात्र प्रकाश है, चैतन्य का प्रकाश। गीता में कृष्ण इस लोक की चर्चा करते हुए कहते हैं कि न सूर्य ही उसे प्रकाशित कर सकता है और न ही चन्द्रमा। वह स्वतः प्रकाशमान व अक्षुण्य है।

भिन्न-भिन्न लोकों के समय का प्रभाव भिन्न-भिन्न है। गीता में कृष्ण इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि ब्रह्मा के एक वर्ष की अवधि मनुष्य लोक के एक वर्ष की अवधि से कहीं ज्यादा है। वास्तव में हर चेतना के समय के बंधन से ही बाँधा गया है। मन ही समय पर नजर रखता है व इसके पीछे भागने का प्रयास करता है। विभिन्न लोकों में मन का प्रभाव भिन्न-भिन्न है। इसी कारण हर लोक में काल का प्रभाव भी भिन्न-भिन्न है। ठीक वैसे ही जैसे हर एक सीढ़ी, अलग-अलग ऊँचाई पर स्थित है।

परमात्मा एक पूर्ण समयहीनता की स्थिति है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि हर वर्णन समय की माँग करता है। समय, समयहीनता को अभिव्यक्त नहीं कर सकता।

पितृ ऋण

जन्म या उत्पत्ति द्विध्रुवीय व्यवस्था के अंतर्गत होती है जिसमें पिता और माता का साथ आना आवश्यक है। सामाजिक तौर पर हर बच्चा चाहे वह मनुष्य का हो या जन्तु का एक परिवार में जन्म लेता है जो उसके माता-पिता का होता है। अलग-अलग परिवारों में जन्में बच्चों के माता-पिता अलग-अलग होते हैं परन्तु आध्यात्मिक तौर पर माता व पिता के मध्य विभिन्नताएँ नहीं होतीं। समाज मानता है कि व्यक्तित्व बच्चों को पैदा करते हैं जबकि आध्यात्म कहता है कि चाहे वह जीव हो या मनुष्य, जन्तु हो या कोई अचर सभी को जन्म देने वाली माता प्रकृति है और बीज देने वाला पिता ईश्वर। गीता में कृष्ण कहते भी हैं कि प्रकृति ही सभी को गर्भ में धारण करने वाली माता है और मैं अर्थात कृष्ण स्वयं बीज देने वाला पिता। ईश्वर ही परमात्मा के रूप में इस शरीर में स्थित होकर जीव के शरीर धारण करने की प्रक्रिया को सुलभ करते हैं। इस प्रकार परमात्मा की अनुपस्थिति में इस शरीर का आकार लेना संभव नहीं। मनुष्य सत्य की ओर अर्थात् परमात्मका की ओर अपनी यात्रा में जब तक स्वयं तक नहीं पहुँचता, तब तक परमात्मा उसके लिए एक विचार है या फिर आस्था। स्वयं को जानने पर ही व्यक्ति को अपने जीवन के लक्ष्य का पता चलता है और ये सभी लक्ष्य सीधे उसकी आत्मा से उसे प्राप्त होते हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे मन से हमें अनेक लक्ष्य प्राप्त होते हैं। परमात्मा काल से परे हैं और समय के चक्र में अर्थात् पृथ्वी पर वे कुछ नियत कार्य को करने हेतु, केवल आवश्यकता पड़ने पर ही आना स्वीकार करते हैं, जिसे अवतार कहते हैं। लेकिन दो अवतारों के मध्य काल में भी ईश्वर का कार्य चलता रहता है। प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रूप से ही सही। जैसे एक बच्चा अपने पिता की उँगली पकड़कर चलना सीखता है ठीक उसी प्रकार ईश्वर भी सभी प्राणियों के लिए उचित मार्गदर्शन की व्यवस्था करते हैं।

मनुष्य बौद्धिक रूप से सक्षम प्राणी है। उसके द्वारा लिए गए निर्णय दूसरे जीव-जन्तुओं और उनके जीवन पर गहरा प्रभाव डालते हैं। पृथ्वी के संसाधनों पर काफी हद तक मनुष्यों का ही नियंत्रण है। इसी कारण सबसे ज्यादा ईश्वर का मार्गदर्शन भी मनुष्यों को ही मिलता है परन्तु इस मार्गदर्शन के लिए ईश्वर को माध्यमों की आवश्यकता होती है और इसके लिए हर कालखण्ड में परमात्मा कुछ चेतनाओं के माध्यम से अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। अपनी आत्मा के निमित्त किया गया हर कार्य परमात्मा का ही कार्य है इसलिए हर वो मनुष्य जो अपनी मन की आवाज के ऊपर अपनी अन्तरात्मा की आवाज को प्राथमिकता देता है, वो ईश्वर का ही कार्य करता है। कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं, जिन्हें अपने जीवन के लक्ष्य ज्ञात हो जाते हैं और इस कारण वे उस पर कार्य करना प्रारंभ कर देते हैं। वहीं दूसरे ऐसे कई उन्नत मनुष्य होते हैं जिन्हें अभी अपने जीवन के लक्ष्य नहीं मालूम लेकिन फिर भी वे अपनी अन्तरात्मा की आवाज को ही अपना मार्गदर्शक मान जीवन के लक्ष्य ज्ञान होने से पहले ही ईश्वर के स्वयंसेवक के रूप में कार्य करना प्रारम्भ कर देते हैं। अपने जीवन के वास्तविक लक्ष्यों को पता कर उन लक्ष्यों को पूर्ण करना ही पितृऋण को चुकाना है। हर वो मनुष्य जो तैयार हो जाता है, उसे ईश्वर कुछ न कुछ कार्य अवश्य देते हैं। अपनी आत्मा के निमित्त किया गया हर एक कार्य आपको ईश्वर के नजदीक एक–एक कदम निकट लेकर जाएगा। इस कारण जब तक स्वयं अपना प्रकाश न उत्पन्न हो, तब तक स्वाध्याय सहायता करता है। पिता के कार्यों को पूर्ण कर ही बालक पिता के प्रति अपने ऋण से मुक्त हो सकता है और इन कार्यों को पूर्ण करने पर उसे कर्मफल नहीं अपितु सानिध्य और प्रेम प्राप्त होता है जिसे वो सदा से ढूँढ रहा था।

यम अथवा यमदूत

पुराणों में प्राणी की मृत्यु पर यम अथवा यमदूतों के आने का वर्णन प्राप्त होता है। यमदूत के नाम पर मन एक चित्र बना लेता है, जिसमें भयानक-सा दिखने वाला कोई इंसान हाथों में अस्त्र-शस्त्र व रस्सी लिया हुआ प्रतीत होता है। महर्षि पतंजली ने योगसूत्र में यम का वर्णन करते हुए इसके पाँच आधार बताए जो हैं, अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय और ब्रह्मचर्य। पतंजली यम को चेतना की शुद्धि का उपकरण बताते हैं। जिसके माध्यम से व्यक्ति अपनी आंतरिक सफाई कर सकता है और योग के माध्यम से अपनी चेतना को उस ब्रह्माण्डीय चेतना से जोड़ सकता है। जैसे-जैसे मनुष्य की जीवनीशक्ति समाप्त होती जाती है, वैसे-वैसे चेतना के शरीर से बँधन ढीले पड़ने लगते हैं। जीवनीशक्ति के पूर्णतया समाप्त होने पर चेतना का शरीर से बँधन टूट जाता है और चेतना बाहर स्थित ब्रह्माण्डीय चेतना की ओर खिंच जाती है। इसे स्पष्ट करते हुए कृष्ण गीता में कहते हैं कि हे अर्जुन! तुम्हारे भीतर भी मैं ही हूँ और तुम्हारे बाहर भी मैं ही।

चित्रों व फिल्मों ने यम के साथ बहुत से रचनात्मक प्रयोग किए हैं। यम का रंग-रूप, स्वरूप, बनावट, कपड़े, लम्बा-चौड़ा शरीर, भारी चेहरा और उस पर फैला जोरदार अट्टहास। लेकिन फिल्मों और मन द्वारा बताया गया 'यम' और उसकी वास्तविकता एक-दूसरे से ठीक विपरीत हैं। यम वह शांतिस्थल है जो शरीर में रहते हुए चेतना शायद ही कभी प्राप्त करती है। जैसे जंगली जानवर जंगल में प्रसन्न हैं, पक्षी आकाश में, मछलियाँ जल में तथा धरती पर रहने वाले जीव धरती पर, ठीक उसी प्रकार चेतना यम के साथ अपने स्वाभाविक स्वरूप में रहकर आनन्दित महसूस करती है।

महर्षि पतंजली ने यम को इतना महत्वपूर्ण माना है कि अष्टांग योग का प्रारंभ ही यम से किया। कारण स्पष्ट था, जीवनयात्रा पर जाता तो जीव है लेकिन उसकी सारी तैयारी प्रकृति ही करती है। जन्म देने वाली माँ तो मात्र प्रतीक्षा करती है, नौ महीनों के पूर्ण होने का। इस बीच प्रकृति जीव के शरीर पर सतत् कार्य करती रहती है।

पतंजली के अनुसार जब जीवन के पहले प्रकृति ही सारा नियंत्रण रखती है, शरीर रूपी योजना को आकार देती है, पूर्ण समर्पित रहती है तो जीवन के दौरान भी नियंत्रण प्रकृति के हाथ ही रहने दो। मन के हाथों से अपनी बागडोर लेकर वापस प्रकृति को सौंप दो और इसकी शुरूआत 'यम से करो!' जीवन के दौरान भी प्रकृति को ही प्रवाहित होने दो और तब तुम्हारे अनुभव जीवन के पहले, जीवन के दौरान और जीवन के पश्चात् लगभग एक जैसे ही होंगे। चेतना से जीव और जीव से शरीर होने की यात्रा तब ज्यादा सुगम होगी और शरीर से पुनः चेतना होने की यात्रा में भी यम तुम्हारी सहायता करेगा। वास्तव में पृथ्वी पर मनुष्य का यदि कोई सबसे समर्पित साथी है, तो वह है यम।

देव ऋण

देव ऋण अर्थात् देवताओं के प्रति मनुष्य का ऋण। चेतना पदार्थ से सम्बन्धित अपने प्रयोगों को करने के लिए जिस रूप में उपस्थित होती है, उसे जीवन कहते हैं। जीवन की यात्रा गुणों की ही यात्रा है क्योंकि हर पदार्थ के कुछ न कुछ गुण अवश्य होते हैं। गुण समय से बँधे हैं और समय के साथ उनमें परिवर्तन आता-जाता है। इसी कारण व्यक्ति अपने जीवन में परिवर्तनों से होकर गुजरता है। देवता गुणों को अभिव्यक्त करते हैं, वे गुणों के स्वामी हैं। अग्निदेव, वरुणदेव, इन्द्रदेव, धनवंतरी, सरस्वती, लक्ष्मी, शीतला, दुर्गा, काली, अन्नपूर्णा, विश्वकर्मा, कुबेर इत्यादी देवताओं के श्रेणी में आते हैं। सभी देवता किसी न किसी एक विशेष विभाग से सम्बन्धित हैं। उस विशेष विभाग से सम्बन्धित इच्छा और उसमें प्रगति के लिए देवताओं की आराधना की जाती है। कृष्ण गीता में कहते भी हैं – जिस-जिस मनुष्य की श्रद्धा जिस-जिस देवता के प्रति होती है, उसकी श्रद्धा को मैं उसी देवता के प्रति स्थिर करता हूँ और उस देवता से मेरे ही द्वारा नियत किए गए भोगों को मनुष्य प्राप्त करता है। मनुष्य को गुणों से जोड़ती है उसकी इच्छा और उसकी उत्कण्ठा। मनुष्य जीवन में जो कुछ भी प्रयोग अथवा कर्म करता है इसी इच्छा या उत्कण्ठा के वशीभूत होकर ही करता है। प्रयोगों की पूर्णता के साथ उसकी उत्कण्ठा धीरे-धीरे शांत होने लगती है। उत्कण्ठा के वशीभूत होकर किए गए प्रयोग ही आदत का रूप ले लेते हैं और फिर मनुष्य या तो अपनी आदतों के वशीभूत होकर जीता रहता है या फिर उन्हीं आदतों से लड़ता है।

ऋण चुकाने का सीधा सम्बन्ध, ऋणों की अदायगी से है। मन के प्रभाव में गुणों के माध्यम से किया गया कार्य कर्मफल उत्पन्न करता है। मन के प्रभाव से मुक्त होकर जब अपने गुणों का उपयोग अपनी या किसी अन्य की इच्छाओं के लिए न होकर जब

उसकी आवश्यकता पूर्ति करने लगता है, उस दशा में मनुष्य गुणों से जुड़े हुए होते हुए भी उनसे जुड़ा नहीं होता। गुणों का उपयोग करते हुए भी उनमें आसक्त नहीं होता। गुणी होते हुए भी कर्मफल से बँधा नहीं होता। प्रकृति ही सभी गुणों की जननी है परन्तु प्रकृति स्वयं गुणों में आसक्त नहीं है। यही कारण है कि उसके सभी संसाधन सभी प्राणियों के लिए समान रूप से उपस्थित हैं। प्रकृति तो जन्म गुणों को देती है परन्तु स्वयं वो निर्गुण परमात्मा का विस्तार है। वह निर्गुणता में मग्न है। वहीं मन प्रकृति के गुणों के प्रति अत्यन्त आसक्त है और गुणों के प्रति उसकी आसक्ति ही बुद्धि को जन्म देती है। अपने गुणों में आसक्ति को खोने के पश्चात् ही मनुष्य गुणों का उपयोग अपने व्यक्तित्व के लिए न कर अन्य प्राणियों हेतु करने लगता है। इस दशा में गुणों को धारण करते हुए भी उनसे जुड़ा नहीं होता। गुणों में आसक्ति जाने के पश्चात् ही मनुष्य स्वयं की ओर मुड़ पाता है और जो स्वयं की खोज में निकला वही सत्य की खोज में निकला। अब वह देवता और उनके गुणों में मोहित नहीं। उसे अब ज्यादा देर तक भ्रम में नहीं रखा जा सकेगा। अब वह खोज पर निकल पड़ा है। अपने संसाधनों को गुणों के तरफ से हटाकर उसने स्वयं की ओर मोड़ दिया है। अब वह मात्र संतुष्टि से ही संतुष्ट नहीं, अब उसे संतृप्ति चाहिए –स्थिरता चाहिए और संतृप्ति देवताओं की परिधि से बाहर है।

❖❖❖

मातृ ऋण

मातृ ऋण अर्थात् माता का ऋण। चंचल बच्चे के लिए माँ ही खिलौना उपलब्ध कराती है और भयग्रस्त व व्यग्र होने पर वह ही बच्चे को आँचल में छिपा सुरक्षा का आश्वासन व प्रेम का आवरण देती है। प्रकृति ही वह माँ है जो मनोकामनाओं को पूर्ण करने हेतु संसाधन उपलब्ध कराती है। अपनी सभी इच्छाओं को मनुष्य प्रकृति के माध्यम से ही पूर्ण करता है। व्यग्र होने पर वह प्रकृति की गोद में ही शांति प्राप्त करने हेतु वापस लौटता है।

मन असुरक्षा की भावना पैदा करता है क्योंकि भावनाएँ पैदा करना ही उसका काम है। व्यक्ति के असुरक्षा का सबसे बड़ा कारण उसका व्यक्तित्व है और व्यक्तित्व का जनक मन है। जीवन में व्यक्ति मन के प्रभाव में रहता है परंतु जीवन की बाध्यता समाप्त होने पर प्रकृति पुनः चेतना को अपने आवरण में समेट लेती है। प्रकृति प्राणी को शक्ति देती है जिसका उपयोग मनुष्य मन के अनुसार करता रहता है। ऋण चुकाना अर्थात् मूल स्वरूप में वापस करना। प्रकृति द्वारा प्रदत्त शक्ति को जब मनुष्य मन के प्रभाव में आकर व्यर्थ नहीं करता तब यही शक्ति मनुष्य के भीतर उपस्थित चक्रों के माध्यम से प्रेम, भक्ति, सेवा, ज्ञान व आनन्द में परिवर्तित हो सभ्यता की ओर प्रभावित होने लगती है। तात्पर्य यह है कि बच्चा अब वही कर रहा है जो माँ किया करती है। बच्चे का स्वभाव माँ के समान हो चला है, बच्चा माँ का ही माध्यम बन चुका है। अब वह प्रकृति के चक्र का भाग है क्योंकि उसके पास अब मन रूपी अवरोध नहीं है। जिस प्रकार प्रकृति के चक्र में जल, बर्फ व वाष्प में परिवर्तित होता रहता है। ठीक उसी प्रकार शक्ति भी उसके माध्यम से विभिन्न रूपों में परिवर्तित हो आगे बढ़ रही है।

अवरोध अब चक्र में परिवर्तित हो चुका है। बच्चा अब जिम्मेदारी नहीं अपितु सहायता करने योग्य हो चुका है। अब वह माँ के विरुद्ध नहीं अपितु माँ के लिए कार्यरत है। प्रकृति का प्रेम अब बच्चे के माध्यम से अभिव्यक्त हो रहा है। माँ एक और बच्चे के भीतर अविरल रूप से प्रवाहित हो रही है।

बच्चा माँ को और माँ बच्चे को मुक्त करती है। शक्ति बँधित चेतना को और चेतना बँधित शक्ति को मुक्त करती है। प्रकृति चेतना को पूर्ण विकसित होने पर ही मुक्त करती है और तक्षण शिव से मिल सौम्य, निर्बल व अविरल हो गंगा रूप में अपने चक्र के रूप में आगे बढ़ जाती है। इस प्रकार शिव व शक्ति परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पित हो इस सृष्टि चक्र का नियमन करते रहते हैं।

त्रिगुण

गीता में वर्णित तीन प्रकार के गुण 'सत्व, रज और तम' तथा पदार्थ में उपस्थित तीन प्रकार के मुख्य कण 'प्रोटॉन, न्यूट्रॉन व इलेक्ट्रॉन' एक दूसरे की ही अभिव्यक्ति हैं। जिसमें इलेक्ट्रॉन तमो गुण को, प्रोटॉन रज गुण और न्यूट्रॉन सत्व गुण का प्रतिनिधि है परंतु न्यूट्रॉन, 'प्रोट्रॉन व इलेक्ट्रॉन' में परिवर्तित हो जाने की क्षमता रखता है। ठीक उसी प्रकार प्रोट्रॉन भी न्यूट्रॉन में रिवर्स बीटा डिके नामक प्रक्रिया द्वारा बदल जाया करता है। इस प्रकार से यह तीनों कण आपस में परिवर्तनशील हैं। कृष्ण ने भी तो यही कहा कि गुण परिवर्तनशील हैं इसलिए गुणों में मत उलझना, वह मात्र एक दूसरे में परिवर्तित से होकर तुम्हें अनंतकाल तक भरमाए रखने का सामर्थ्य रखते हैं। प्रोट्रॉन और न्यूट्रॉन के अंदर भी वह कारण उपस्थित हैं जो इन कणों की उपस्थिति हेतु आवश्यक है, वह है 'क्वार्क' यदि 'क्वार्क' न हो तो न्यूट्रॉन व प्रोट्रॉन निर्मित नहीं हो पाएंगे। वर्षों तक हम मात्र तीन को ही मुख्य कण मानते रहे परंतु कारण तो अब सामने आ रहा है। इसी कारण कृष्ण ने कहा कि कारण में जाओ, कृति में नहीं। यह जानने का प्रयास करो कि कृति यदि है तो उसके पीछे कहीं न कहीं कारण तो अवश्य है।

सत्व, रज और तम नामक गुण, तीन रंगों के समान हैं। विज्ञान कहता है कि एक रंग के अनगिनत शेड्स हो सकते हैं। तीन रंग और तीन रंगों को मिलाने से बने अनगिनत रंग और उन अनगिनत रंगों के अनगिनत शेड्स। इसी कारण गुणों से भरे मनुष्य को समझ पाना संभव नहीं क्योंकि माया के पास अनगिनत रंग हैं। कब किस दशा में कौन-सा मनुष्य किस प्रकार से प्रतिक्रिया देगा, यह बताना या इसका पूर्वानुमान करना संभव नहीं है। कभी-कभी जीवनभर साथ रहने वाले दो प्राणी, एक दूसरे को अंत तक

समझ नहीं पाते। जिन बच्चों को माँ-बाप छोटे से बड़ा करते हैं, अंततः उन्हीं के स्वभाव को पढ़ने में वे चूक कर जाते हैं। लाखों वर्षों से साथ रहने के बाद भी आदमी कहते हैं कि औरतों को समझना मुश्किल है तथा औरते कहती हैं कि आदमी हैं कि जिन्हें समझा ही नहीं जा सकता और न ही समझाया जा सकता है। इस न समझ में आने वाली पहेली का राज छुपा है उस कारण में जिससे यह मनुष्य शरीर बनता है अर्थात् स्वयं गुण। वही गुण जो तीन रंगों के समान हैं और हर रंग के अंग अनगिनत शेड्स। इन गुणों को धारण करने वाली माया को इसी कारण समझ पाना संभव नहीं।

❖❖❖

About the author:

Shunyo's birth name is kishlay. He is a dentist possessing qualifications from India and south Africa. He got trained at army establishment. Currently he works for the government and sustains a private practice in india. One fine day he found a gate and a lane connected with it, and a journey begun. He feels this journey is all about this name 'shunyo', that is being zero.